बौद्धभारतीग्रन्थमाला-२०
Bauddha Bharati Series-20

श्रीजयराशिभट्टविरचितः

तत्त्वोपप्लवसिंहः

(चार्वाकाणां ग्रन्थविशेषः)

बौद्धभारती

प्रधानसम्पादकः
स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

पृ.१५५.

बौद्धभारतीग्रन्थमाला—२०

BAUDDHA BHARATI SERIES—20

श्रीजयराशिभट्टविरचितः

तत्त्वोपप्लवसिंहः

(चार्वाकाणां ग्रन्थविशेषः)

प्रधानसम्पादकः

स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

Baudhha Bharati Series—20

TATTVOPAPLAVASIMHA

OF

SHRI JAYARASI BHATTA

Edited with an introduction and indices
by
PANDIT SUKHLALJI SANGHAVI
and
PROF. RASIKLAL C. PARIKH,
B. A. (Hons)

Bauddha Bharati
VARANASI
1987

श्रीजयराशिभट्टविरचितः

तत्त्वोपप्लवसिंहः

[विस्तृतभूमिका हिन्दीरूपान्तरसहितः]

(अनेकविधसूची-पाठान्तरादिसंवलितश्च)

सम्पादकौ

पण्डितश्रीसुखलालजी सङ्घवी

एवं

प्रो० रसिकलाल पारीख

बी० ए० (आनर्स)

बौद्धभारती

१९८७ ख्रिष्टाब्द] वाराणसी [१५२८ बुद्धाब्दः

प्रकाशक :
©बौद्धभारती
पो० बा० १०४६
वाराणसी-१ (उ० प्र०)
पिन : २२१००१

Published by :
©BAUDDHA BHARATI
Post-Box 1049,
Varanasi—1 (U. P.)
Pin : 221001

प्रथम संस्करण : १९८७

First Edition : 1987

मुद्रक :
ओरियण्ट ऑफसेट
दिल्ली-५३

Printed at :
The Orient Offset.
Delhi-53

प्रकाशकीयम्

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा ।।

मान्या विद्वन्मूर्धन्याः !

अथेदानीं प्रस्तूयतेऽस्यां बौद्धभारतीग्रन्थमालायां श्रीमज्जयराशिभट्टविरचितः तत्त्वोपप्लवसिंहो ग्रन्थः । अस्मिन् ग्रन्थे तत्त्व(प्रमाण-प्रमेय)विचारप्रसङ्गे एका विशिष्टा शैली ग्रन्थकारेण, या हि इत पूर्वं द्वित्रैरेव श्रीहर्षादिभिः साहसिकैर्विद्वद्भिः स्वीकृता आसीत् ।

अत्र यथाऽन्येषां दार्शनिकानां मतानि यथावसरं खण्डितानि, तथैव बौद्धानामपि दार्शनिकानां मतं सूक्ष्मेक्षिकया स्थाने स्थाने बलादपास्तमिति बौद्धानां कृतेऽप्यस्य ग्रन्थस्य पठनमत्यावश्यकमस्ति । अतः स्थानमेतत् यदयमपि ग्रन्थोऽस्यां ग्रन्थमालायां प्रकाशितो भवेदिति ।

कोऽयं महामना जयराशिभट्टः ? कस्मिश्च प्रदेशेऽयं जन्म लेभे ? अस्य च किं दार्शनिकं मतम् ?—इत्यादि सर्वं विषयजातं विद्वन्मूर्धन्यैः सम्पादकैः भूमिकायां विस्तरेण साधु विचारितमिति तत्रैवावलोकनीयम् ।

अन्ते च, इदं संस्करण १९४० तमे वर्षे वटोदरस्थ गायकवाड़ग्रन्थमालायां प्रकाशित श्रीसुखलालजी सङ्घवी-श्रीरसिकलाल पारीखमहोदयैः सम्पादितस्य संस्करणस्याधमर्णमस्ति । एवमेव राष्ट्रभाषया लिखिता विशिष्टा भूमिका च

अहमदावादस्थ गुजरातविद्यासभातः श्रीसुखलालजी सङ्घवीमहाभागानां लेखानां संग्रहरूपेण प्रकाशिताद् 'दर्शन एवं चिन्तन' नामकाद् ग्रन्थादुद्धृता ।

इत्येतदर्थं वयं तयोः संस्करणयोः सम्पादकान् प्रकाशकांश्च प्रति साभारं कृतज्ञतां प्रकाशयामः ।

एवं साङ्गोपाङ्गमिदं सुदुर्लभं ग्रन्थरत्नं विदुषाम् । अनुसन्धित्सूनाम्, अन्तेवासिनां च हिताय सुखाय स्यादित्याशास्महे ।

दीपावलि, २०४३ वै०
वाराणसी

प्रकाशकः
मन्त्री, बौद्धभारतीपरिषद्

PREFACE

The Palm leaf manuscript on which the present edition of Tattvopaplavasimha is based was first discovered by Pandit Sukhlalji and Pandit Bechardas Dosi in the year 1926 in a MSS library at Patan known as Sanghavinā Pādāno Bhandār when they were searching for MSS of Sanmatitarka and its commentary Tattvabodhavidhāyinī A short note on this work was Published by Prof. Rasik Lal C. Parikh the then editor of the Purātattva Quarterly in Vol. IV Nos I-2P. 155 and the work was proposed for publication in the Purā-tattvamandir series. Owing to various adverse circumstances, however, TPS, could not be undertaken for that series. It gives us, therefore, great pleasure that after so many years it has become possible to publish the same in the G. O. S. for which our heartfelt thanks are due to that great patron of learning H. H. the Maharaja Gaekwar of Baroda and the learned editor of the series Dr. B. Bhattacharya.

Our thanks are also due to Dr. A. B. Dhruva for some valuable suggestions, to Muni Punya Vijayaji through whom we were able to procure the Palm-leaf manuscript of T. P. S. to Shri Jinavijayaji who helped us in diciphering many obscure letter in the MS, to Pandit Dal-Sukh Malvania and Pandit Keshavaram Shastri for helping in proof-reading to Pandit Mahendra Kumar Nyayacharya for helping in tracing quotations and to Shrimati Hira Kumari in preparing indexes.

PREFACE

The Palm-leaf manuscript on which the present edition of Tattvopaplavasimha is based was first discovered by Pandit Sukhlalji and Pandit Bechardas Doshi in the year 1926 in a MSS library at Patan, known as [illegible] when they were searching for MSS of Sanmatitarka and its Commentary Tattvabodhavidhayini. A short note on this work was published by Shri Rasiklal C. Parikh, the then editor of the Puratattva Quarterly in Vol. IV, No. [illegible] that the work was copied and taken [illegible] in the [illegible] series. Owing to various adverse circumstances, however, it could not be undertaken for that series. It gives us therefore great pleasure to offer [illegible] that it has been [illegible] to publish the same in the G. O. S. The work [illegible] [illegible] [illegible] Maharaja [illegible] and [illegible] of the late Dr. B. Bhattacharya.

Our thanks are due to Dr. A. [illegible] for his valuable suggestions [illegible] Pandit Vasant [illegible] were [illegible] [illegible] the MS. [illegible] [illegible] for help [illegible] [illegible] [illegible]

तत्त्वोपप्लवसिंह

चार्वाक दर्शनका एक अपूर्व ग्रन्थ

गत वर्ष, ई० स० १९४० में, गायकवाड़ ओरिएण्टल सिरीजके ग्रन्थाङ्क ८७ रूपमें, तत्त्वोपप्लवसिंह नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है जो चार्वाक दर्शनके विद्वान् जयराशि भट्टकी कृति है और जिसका सम्पादन प्रो० रसिकलाल सी० परीख तथा मैंने मिलकर किया है। इस ग्रन्थ तथा इसके कर्ताके विषयमें ऐसी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें हैं जिनकी जानकारी दर्शन-साहित्यके इतिहासज्ञोंके लिए तथा दार्शनिक-प्रमेयोंके जिज्ञासुओंके लिए उपयोगी एवं रसप्रद हैं।

उक्त सिरीजमें प्रकाशित प्रस्तुत कृतिकी प्रस्तावनामें, ग्रन्थ तथा उसके कर्ताके बारेमें कुछ आवश्यक जानकारी दी गई है; फिर भी प्रस्तुत लेख विशिष्ट उद्देश्यसे लिखा जाता है। एक तो यह, कि वह मुद्रित पुस्तक सबको उतनी सुलभ नहीं हो सकती जितना कि एक लेख। दूसरी, वह प्रस्तावना अंग्रेजीमें लिखी होनेसे अंग्रेजी न जाननेवालोंके लिए कार्यसाधक नहीं। तीसरी, खास बात यह है कि उस अंग्रेजी प्रस्तावनामें नहीं चर्चित ऐसी अनेकानेक ज्ञातव्य बातोंका इस लेखमें विस्तृत ऊहापोह करना है।

तत्त्वोपप्लवसिंह और उसके कर्ताके बारेमें कुछ लिखनेके पहले, यह बतलाना उपयुक्त होगा कि इस ग्रन्थकी मूल प्रति हमें कब, कहाँसे और किस तरहसे मिली। करीब पन्द्रह वर्ष हुए, जब कि मैं अपने मित्र पं० बेचरदासके साथ अहमदाबादके गुजरात पुरातत्त्व मन्दिरमें सन्मतितर्कका सम्पादन करता था, उस समय सन्मतितर्ककी लिखित प्रतियोंकी खोजकी धुन मेरे सिरपर सवार थी। मुझे मालूम हुआ कि सन्मतितर्ककी ताडपत्रकी प्रतियाँ पाटणमें हैं। मैं पं० बेचरदासके साथ वहाँ पहुँचा। उस समय पाटणमें स्व० मुनिश्री हंसविजयजी विराजमान थे। वहाँके ताडपत्रीय भण्डारको खुलवानेका तथा उसमेंसे इष्ट प्रतियोंके पा लेनेका कठिन कार्य उक्त मुनिश्रीके ही सद्भाव तथा प्रयत्नसे सरल हुआ था।

सन्मतितर्ककी ताडपत्रीय प्रतियोंको खोजते व निकालते समय हम लोगोंका ध्यान अन्यान्य अपूर्व ग्रन्थोंकी ओर भी था। पं० बेचरदासने देखा कि उस एकमात्र ताडपत्रीय ग्रन्थोंके भण्डारमें दो ग्रन्थ ऐसे हैं जो अपूर्व हो कर जिनका

उपयोग सन्मतितर्ककी टीकामें भी हुआ है। हमने वे दोनों ग्रन्थ किसी तरह उस भण्डारके व्यवस्थापकोंसे प्राप्त किए। उनमेंसे एक तो था बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्तिके हेतुबिन्दुशास्त्रका अर्चटकृत विवरण [1] और दूसरा ग्रन्थ था प्रस्तुत तत्त्वोपप्लवसिंह। अपनी विशिष्टता तथा पिछले साहित्य पर पड़े हुए इनके प्रभावके कारण, उक्त दोनों ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण तो थे ही, पर उनकी लिखित प्रति अन्यत्र कहीं भी ज्ञात न होनेके कारण वे ग्रन्थ और भी अधिक विशिष्ट महत्त्ववाले हमें मालूम हुए।

उक्त दोनों ग्रन्थोंकी ताडपत्रीय प्रतियाँ यद्यपि यत्र-तत्र खण्डित और कहीं कहीं घिसे हुए अक्षरोंवाली हैं, फिर भी ये शुद्ध और प्राचीन रही। तत्त्वोपप्लवकी इस प्रतिका लेखन-समय वि० सं० १३४६ मार्गशीर्ष कृष्ण ११ शनिवार है। यह प्रति गुजरातके धोलका नगरमें, महं० नरपालके द्वारा लिखवाई गई है। धोलका, गुजरातमें उस समय पाटणके बाद दूसरी राजधानीका स्थान था, जिसमें अनेक ग्रन्थ भण्डार बने थे और सुरक्षित थे। धोलका वह स्थान है जहाँ रह कर प्रसिद्ध मन्त्री वस्तुपालने सारे गुजरातका शासन-तंत्र चलाया। था। सम्भव है कि इस प्रतिका लिखानेवाला महं० नरपाल शायद मंत्री वस्तुपालका ही कोई वंशज हो। अस्तु, जो कुछ हो, तत्त्वोपप्लवकी इस उपलब्ध ताडपत्रीय प्रतिको अनेक बार पढ़ने, इसके घिसे हुए तथा लुप्त अक्षरोंको पूरा करने आदिका श्रमसाध्य कार्य अनेक सहृदय विद्वानोंकी मददसे चालू रहा, जिनमें भारतीय-विद्याके सम्पादक मुनिश्री जिनविजयी, प्रो० रसिकलाल परीख तथा पं० दलसुख मालवणिया मुख्य हैं।

इस ताड़पत्रकी प्रतिके प्रथम वाचनसे ले कर इस ग्रन्थके छप जाने तकमें जो कुछ अध्ययन और चिन्तन इस सम्बन्धमें हुआ है उसका सार '**भारतीय विद्या**' के पाठकोंके लिए प्रस्तुत लेखके द्वारा उपस्थित किया जाता है। इस लेखका वर्त्तमान स्वरूप पं० दलसुख मालवणियाके सौहार्दपूर्ण सहयोगका फल है।

ग्रन्थकार

प्रस्तुत ग्रन्थके रचयिताका नाम, जैसा कि ग्रन्थके अन्तिम प्रशस्तिपद्यमें [2]

---

१. गायकवाड सिरीजमें यह भी प्रकाशित हो गया है।

२. **भट्टश्रीजयराशिदेवगुरुभिः सृष्टो महार्थोदयः।**
तत्त्वोपप्लवसिंह एष इति यः ख्यातिं परां यास्यति॥ तत्त्वो०, पृ० १२५
"तत्त्वोपप्लवकरणाद् जयराशिः सौगतमतमवलम्ब्य ब्रूयात्"—सिद्धिवि० टी०, पृ० २८८।

उल्लिखित है, **जयराशि भट्ट** है। यह जयराशि किस वर्ण या जातिका था इसका कोई स्पष्ट प्रमाण ग्रन्थमें नहीं मिलता, परन्तु वह अपने नामके साथ जो 'भट्ट' विशेषण लगाता है उससे जान पड़ता है कि वह जातिसे ब्राह्मण होगा। यद्यपि ब्राह्मणसे भिन्न ऐसे जैन आदि अन्य विद्वानोंके नामके साथ भी कभी-कभी यह भट्ट विशेषण लगा हुआ देखा जाता है (यथा—भट्ट अकलंक इत्यादि); परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थमें आए हुए जैन और बौद्ध मत विषयक निर्दय एवं कटाक्ष-युक्त [१] खण्डनके पढ़नेसे स्पष्ट हो जाता है कि यह जयराशि न जैन है और न बौद्ध। जैन और बौद्ध संप्रदायके इतिहासमें ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता है, जिससे यह कहा जा सके, कि जैन और बौद्ध होते हुए भी अमुक विद्वान्‌ने अपने जैन या बौद्ध संप्रदायका समग्र भावसे विरोध किया हो। जैन और बौद्ध सांप्रदायिक परंपराका बंधारण ही पहलेसे ऐसा रहा है, कि कोई विद्वान् अपनी परंपराका आमूल खण्डन करके वह फिर न अपनेको उस परंपरका अनुयायी कह सकता है और न उस परम्पराके अन्य अनुयायी ही उसे अपनी परम्पराका मान सकते हैं। ब्राह्मण संप्रदायका बंधारण इतना सख्त नहीं है। इस संप्रदायका कोई विद्वान्, अगर अपनी पैतृक ऐसी सभी वैदिक मान्यताओंका, अपना बुद्धिपाटव दिखानेके वास्ते अथवा अपनी वास्तविक मान्यताको प्रकट करनेके वास्ते, आमूल खण्डन करता है, तब भी, वह यदि आचारसे ब्राह्मण संप्रदायका आत्यन्तिक त्याग नहीं कर बैठता है, तो वैदिक मतानुयायी विशाल जनतामें उसका सामाजिक स्थान कभी नष्ट नहीं हो पाता। ब्राह्मण सम्प्रदायकी प्रकृतिका, हमारा उपर्युक्त ख्याल अगर ठीक है, तो

---

१. बौद्धोंके लिए ये शब्द हैं—

'तद्बालविलसितम्'–पृ० २६, पं० २६। 'जडचेष्टितम्'– पृ० ३२, पं० ४। 'तदिदं महानुभावस्य दर्शनम्। न ह्यबालिश एवं वक्तुमुत्सहेत'–पृ० ३८, पं० १५। 'तदेतन्मुग्धाभिधानं दुनोति मानसम्'–पृ० ३६, पं० १७। 'तद्बालवल्गितम्'–पृ० ३६, पं० २३। 'मुग्धबौद्धैः'–पृ० ४२, पं० २२। 'तन्मुग्ध विलसितम्'–पृ० ५३, पं० ६। इत्यादि

तथा जैनोंके लिए ये शब्द हैं—

"इमामेव मूर्खतां दिगम्बराणामङ्गीकृत्य उक्तं सूत्रकारेण यथा—

"नग्न! श्रमणक! दुर्बुद्धे! कायक्लेशपरायण!।
जीविकार्थेऽपि चारम्भे केन त्वमसि शिक्षितः॥"

—पृ० ७६, पं० १५।

कहना होगा कि यह भट्ट विशेषण जयराशिकी ब्राह्मण सांप्रदायिकताका ही द्योतक होना चाहिए।

इसके सिवा, जयराशिके पिता-माता या गुरु-शिष्य इत्यादिके संबन्धमें कुछ भी पता नहीं चलता। फिर भी जयराशिका बौद्धिक मन्तव्य क्या था यह बात इसके प्रस्तुत ग्रन्थसे स्पष्ट जानी जा सकती है। जयराशि एक तरहसे बृहस्पतिके चार्वाक संप्रदायका अनुगामी है; फिर भी वह चार्वाकके सिद्धान्तोंको अक्षरशः नहीं मानता। चार्वाक सिद्धान्तमें पृथ्वी आदि चार भूतोंका तथा मुख्य रूपसे प्रत्यक्ष विशिष्ट प्रमाणका स्थान है। पर जयराशि न प्रत्यक्ष प्रमाणको ही मानता है और न भूत तत्त्वोंको ही। तब भी वह अपनेको चार्वाकानुयायी जरूर मानता है। अतएव ग्रन्थके आरम्भमें[1] ही बृहस्पतिके मन्तव्यके साथ अपने मन्तव्यकी आनेवाली असंगतिका उसने तर्कशुद्ध परिहार भी किया है। उसने अपने मन्तव्यके बारेमें प्रश्न उठाया है, कि बृहस्पति जब चार तत्त्वोंका प्रतिपादन करता है, तब तुम (जयराशि) तत्त्वमात्रका खण्डन कैसे करते हो? अर्थात् बृहस्पतिकी परम्पराके अनुयायीरूपसे कम-से-कम चार तत्त्व तो तुम्हें अवश्य मानने ही चाहिए। इस प्रश्नका जवाब देते हुए जयराशिने अपनेको बृहस्पतिका अनुयायी भी सूचित किया है और साथ ही बृहस्पतिसे एक कदम आगे बढ़नेवाला भी बतलाया है। वह कहता है कि—बृहस्पति जो अपने सूत्रमें चार तत्त्वोंको गिनाता है, वे इसलिए नहीं कि वह खुद उन तत्त्वोंको मानता है। सूत्रमें चार तत्त्वोंके गिनाने अथवा तत्त्वोंके व्याख्यानकी प्रतिज्ञा करनेसे बृहस्पतिका मतलब सिर्फ लोकप्रसिद्ध तत्त्वोंका निर्देश करना मात्र है। ऐसा करके बृहस्पति यह सूचित करता है, कि साधारण लोकमें प्रसिद्ध और माने जानेवाले पृथ्वी आदि चार तत्त्व भी जब सिद्ध हो नहीं सकते, तो फिर अप्रसिद्ध और अतीन्द्रिय आत्मा आदि तत्त्वोंकी तो बात ही क्या? बृहस्पतिके कुछ सूत्रोंका उल्लेख करके और उसके आशयके साथ अपने नए प्रस्थानकी आनेवाली असंगतिका परिहार करके जयराशिने भारत-वर्षीय प्राचीन गुरु-शिष्य भावकी प्रणालीका ही परिचय दिया है। भारतवर्षके किसी भी संप्रदाय-

---

१. 'ननु यदि उपप्लवस्तत्त्वानां किमाया....; अथातस्तत्त्वं व्याख्यास्यामः'; 'पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा इत्यादि? न अन्यार्थत्वात्। किमर्थम्? प्रतिविम्बनार्थम्। किं पुनरत्र प्रतिबिम्ब्यते? पृथिव्यादीनि तत्त्वानि लोके प्रसिद्धानि, तान्यपि विचार्यमाणानि न व्यवतिष्ठन्ते, किं पुनरन्यानि?'—तत्त्वो० पृ० १, पं० १०।

के इतिहासको हम देखते हैं, तो उसमें स्पष्ट दिखाई देता है, कि जब कोई असाधारण और नवीन विचारका प्रस्थापक पैदा होता है तब वह अपने नवीन विचारोंका मूल या बीज अपने संप्रदायके प्राचीन एवं प्रतिष्ठित आचार्योंके वाक्योंमें ही बतलाता है। वह अपनेको अमुक संप्रदायका अनुयायी मानने-मनवानेके लिए उसकी परम्पराके प्राचीन एवं प्रतिष्ठित आचार्योंके साथ अपना अविच्छिन्न अनुसंधान अवश्य बतलाता है। चाहे फिर उसका वह नया विचार उस संप्रदायके पूर्ववर्ती आचार्योंके मस्तिष्कमें कभी आया भी न हो।[१] जयराशिने भी यही किया है। उसने अपने निजी विचार-विकासको बृहस्पतिके अभिप्रायमेंसे ही फलित किया है। यह वस्तुस्थिति इतना बतलानेके लिए पर्याप्त है कि जयराशि अपनेको बृहस्पतिकी संप्रदायका मानने-मनवानेका पक्षपाती है।

अपनेको बृहस्पतिकी परम्पराका मान कर और मनवा कर भी वह अपनेको बृहस्पतिसे भी ऊँची बुद्धिभूमिका पर पहुँचा हुआ मानता है। अपने इस मन्तव्यको वह स्पष्ट शब्दोंमें, ग्रन्थके अन्तकी प्रशस्तिके एक पद्यमें, व्यक्त करता है। वह बहुत ही जोरदार शब्दोंमें कहता है कि सुरगुरु—बृहस्पतिको भी जो नहीं सूझे ऐसे समर्थ विकल्प—विचारणीय प्रश्न मेरे इस ग्रन्थमें ग्रथित हैं[२]।

जयराशि बृहस्पतिकी चार्वाक मान्यताका अनुगामी था इसमें तो कोई सन्देह नहीं, पर यहाँ प्रश्न यह है कि जयराशि बुद्धिसे ही उस परम्पराका अनुगामी था कि आचारसे भी? इसका जवाब हमें सीधे तौरसे किसी तरह नहीं मिलता। पर तत्त्वोपप्लवके आन्तरिक परिशीलनसे तथा चार्वाक परम्पराकी थोड़ी बहुत पाई जानेवाली ऐतिहासिक जानकारीसे, ऐसा जान पड़ता है कि जयराशि बुद्धिसे ही चार्वाक परम्पराका अनुगामी होना चाहिए। साहित्यिक

---

१. उदाहरणार्थ आचार्य शङ्कर, रामानुज, मध्व और वल्लभादिको लीजिए—जो सभी परस्पर अत्यन्त विरुद्ध ऐसे अपने मन्तव्योंको गीता, ब्रह्मसूत्र जैसी एक ही कृतिमेंसे फलित करते हैं; तथा सौत्रान्तिक, विज्ञानवादी और शून्यवादी बौद्धाचार्य परस्पर बिलकुल भिन्न ऐसे अपने विचारोंका उद्गम एक ही तथागतके उपदेशमेंसे बतलाते हैं।

२. **"ये याता नहि गोचरं सुरगुरोः बुद्धेर्विकल्पा दृढाः।
प्राप्यन्ते ननु तेऽपि यत्र विमले पाखण्डदर्पच्छिदि।"**

—तत्त्वो० पृ० १२५, पं० १३

इतिहास हमें चार्वाकके खास जुदे आचारोंके बारेमें कुछ भी नहीं कहता। यद्यपि अन्य [१] संप्रदायोंके विद्वानोंने चार्वाक मतका निरूपण करते हुए, उसके अभिमत रूपसे कुछ नीतिविहीन आचारोंका निर्देश अवश्य किया है; पर इतने परसे हम यह नहीं कह सकते कि चार्वाकके अभिमतरूपसे, अन्यपरम्पराके विद्वानोंके द्वारा वर्णन किये गए वे आचार, चार्वाक परम्परामें भी कर्तव्यरूपसे प्रतिपादन किये जाते होंगे। चार्वाक दर्शनकी तात्त्विक मान्यता दर्शानेवाले बार्हस्पत्यके नामसे कुछ सूत्र या वाक्य हमें बहुत पुराने समयके मिलते हैं; पर हमें ऐसा कोई वाक्य या सूत्र नहीं मिलता जो बार्हस्पत्य नामके साथ उद्धृत हो और जिसमें चार्वाक मान्यताके किसी न किसी प्रकारके आचारोंका वर्णन हो। खुद बार्हस्पत्य वाक्योंके द्वारा चार्वाकके आचारोंका पता हमें न चलें तब तक, अन्य द्वारा किये गए वर्णनमात्रसे, हम यह निश्चित नतीजा नहीं निकाल सकते कि अमुक आचार ही चार्वाकका है। वाममार्गीय परंपराओंमें या तान्त्रिक एवं कापालिक परम्पराओंमें प्रचलित या माने जानेवाले अनेक विधि-निषेधमुक्त [२] आचारोंका पता हमें कितनेएक तान्त्रिक आदि ग्रन्थोंसे चलता है। पर वे आचार चार्वाक मान्यताको भी मान्य होंगे इस बातका निर्णायक प्रमाण हमारे पास कोई नहीं। ऐसी दशामें जयराशिको चार्वाक संप्रदायका अनुगामी मानते हुए भी, निर्विवाद रूपसे हम उसे सिर्फ बुद्धिसे ही चार्वाक परम्पराका अनुगामी

---

१. "पिब खाद च चारुलोचने यदतीतं वरगात्रि तन्नते।
नहि भीरु गतं निवर्तते समुदयमात्रमिदं कलेवरम्॥
साध्यवृत्तिनिवृत्तिभ्यां या प्रीतिर्जायते जने।
निरर्था सा मते तेषां धर्मः कामात् परो न हि॥"
—षडद० का० ८२, ८६।

'प्रायेण सर्वप्राणिनस्तावत्—
यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥
'इति लोकगाथामनुरुन्धाना नीतिकामशास्त्रानुसारेणार्थकामावेव पुरुषार्थौ मन्यमानाः पारलौकिकमर्थमपह्नुवानाश्चार्वाकमतमनुवर्तमाना एवानुभूयन्ते।'—सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० २।

२. इस विषयके जिज्ञासुओंको आगमप्रकाश नामकी गुजराती पुस्तक देखने योग्य है जिसमें लेखकने तान्त्रिक ग्रन्थोंका हवाला देकर वाममार्गीय आचारोंका निरूपण किया है।

कह सकते हैं। ऐसा भी संभव है कि वह आचारके विषयमें अपनी पैतृक ऐसी ब्राह्मण परम्पराके ही आचारोंका सामान्य रूपसे अनुगामी रहा हो।

जयराशिके जन्मस्थान, निवासस्थान या पितृदेशके बारेमें जाननेका कोई स्पष्ट प्रमाण प्राप्त नहीं हैं। परन्तु उसकी प्रस्तुत कृति तत्त्वोपप्लवका किया गया सर्वप्रथम उपयोग, हम इस समय, जैन विद्वान् विद्यानन्द, अनन्तवीर्य आदिकी कृतियोंमें देखते हैं[१]। विद्यानन्द दक्षिण भारतके विद्वान् हैं, अतएव पुष्ट संभावना यह है कि जयराशि भी दक्षिण भारतमें ही कहीं उत्पन्न हुआ होगा। पश्चिम भारत—अर्थात् गुजरात और मालवामें होनेवाले कई जैन विद्वानोंने[२] भी अपने ग्रन्थोंमें तत्त्वोपप्लवका साक्षात् उपयोग किया है; परन्तु जान पड़ता है कि गुजरात आदिमें तत्त्वोपप्लवका जो प्रचार बादमें जाकर हुआ वह असलमें विद्यानन्दकी कृतियोंके प्रचारका ही परिणाम मालूम होता है। उत्तर और पूर्व भारतमें रचे गए किसी ग्रन्थमें, तत्त्वोपप्लवका किया गया ऐसा कोई प्रत्यक्ष उपयोग अभी तक नहीं देखा गया, जैसा दक्षिण भारत और पश्चिम भारतमें बने हुए ग्रन्थोंमें देखा जाता है। इसमें भी दक्षिण भारतकी कृतियोंमें ही जब सर्वप्रथम इसका उपयोग देखा जाता है तब ऐसी कल्पनाका करना असंगत नहीं मालूम देता कि जयराशिकी यह अपूर्व कृति कहीं दक्षिणमें ही बनी होगी।

जयराशिके समयके बारेमें भी अनुमानसे ही काम लेना पड़ता है। क्योंकि न तो इसने स्वयं अपना समय सूचित किया है और न दूसरे किसीने ही इसके समयका उल्लेख किया है। तत्वोपप्लवमें जिन प्रसिद्ध विद्वानोंके नाम आए हैं या जिनकी कृतियोंमेंसे कुछ अवतरण आए हैं उन विद्वानोंके समयकी अन्तिम अवधि ई० स० ७२५ के आसपास तककी है। कुमारिल, प्रभाकर, धर्मकीर्ति और धर्मकीर्तिके टीकाकार आदि विद्वानोंके नाम, वाक्य या मन्तव्य तत्त्वोपप्लवमें[३] मिलते हैं। इन विद्वानोंके समयकी उत्तर अवधि ई० स० ७५०

---

१. अष्टसहस्री, पृ० ३७। सिद्धिविनिश्चय, पृ० २८८।

२. गुजरात तथा मालवामें विहार करनेवाले सन्मतिके टीकाकार अभयदेव, जैनतर्कवार्तिककार शान्तिसूरि, स्याद्वादरत्नाकरकार वादी देवसूरि, स्याद्वादमंजरीकार मल्लिषेणसूरि आदि ऐसे विद्वान हुए हैं जिन्होंने तत्त्वोपप्लवका साक्षात् उपयोग किया है।

३. कुमारिलके श्लोकवार्तिककी कुछ कारिकाएँ तत्वोपप्लवमें (पृ० २७, ११६) उद्धृत की गई हैं। प्रभाकरके स्मृतिप्रमोषसंबंध मतका खण्डन जयराशिने

से आगे नहीं जा सकती, दूसरी तरफ, ई० स० ८१० से ८७५ तकमें संभवित जैन विद्वान् विद्यानन्दने तत्त्वोपप्लवका केवल नाम ही नहीं लिया है बल्कि उसके अनेक भाग ज्योंके त्यों अपनी कृतियोंमें उद्धृत किये हैं और उनका खण्डन भी किया है [१]। पर साथमें इस जगह यह भी ध्यानमें रखना चाहिए, कि ई० स० की आठवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें होनेवाले या जीवित ऐसे अकलंक, हरिभद्र आदि किसी जैन विद्वान्का तत्त्वोपप्लवमें कोई निर्देश नहीं है, और न उन विद्वानोंकी कृतियोंमें ही तत्त्वोपप्लवका वैसा कोई सूचन है। इसी तरह, ई० स० की नवीं शताब्दीके प्रारम्भमें होनेवाले प्रसिद्ध शंकराचार्यका भी कोई सूचन तत्त्वोपप्लवमें नहीं है। तत्त्वोपप्लवमें आया हुआ वेदान्तका खण्डन [२] प्राचीन औपनिषदिक संप्रदायका ही खण्डन जान पड़ता है। इन सब बातोंपर विचार करनेसे इस समय हमारी धारणा ऐसी बनती है कि जयराशि ई०स० ७२५ तकमें कभी हुआ है।

यहाँ एक बात पर विशेष विचार करना प्राप्त होता है, और वह यह है, कि तत्त्वोपप्लवमें एक पद्य [३] ऐसा मिलता है जो शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहमें मौजूद है। पर वहाँ, वह कुमारिलके नामके साथ उद्धृत किये जाने पर भी, उपलभ्य कुमारिलकी किसी कृतिमें प्राप्य नहीं है। अगर तत्त्वोपप्लवमें उद्धृत किया हुआ वह पद्य, सचमुच तत्त्वसंग्रहमेंसे ही लिया गया है,

---

विस्तारसे किया है (पृ० १८)। धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिककी कुछ कारिकाएँ और न्यायबिन्दुका एक सूत्र तत्त्वोपप्लवमें उद्धृत हैं (पृ० २८, ५१, ४५, इत्यादि; तथा पृ० ३२)। धर्मकीर्तिके टीकाकारोंका नामोल्लेख तो नहीं मिलता किन्तु धर्मकीर्तिके किसी ग्रन्थकी कारिकाकी, जो टीका किसीने की होगी उसका खण्डन तत्त्वोपप्लवमें उपलब्ध है—पृ० ६८।

१. 'कथं प्रमाणस्य प्रामाण्यम्? किमदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन, बाधारहितत्वेन, प्रवृत्तिसामर्थ्येन, अन्यथा वा? यद्यदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन तदा....' इत्यादि अष्टसहस्रीगत पाठ (अष्टसहस्री पृ० ३८) तत्त्वोपप्लवमेंसे (पृ० २) शब्दशः लिया गया है। और आगे चलकर अष्टसहस्रीकारने तत्त्वोपप्लवके उन वाक्योंका एक-एक करके खण्डन भी किया है—देखो, अष्टसहस्री पृ० ४०।

२. देखो, तत्त्वोपप्लव पृ० ८१।

३. "दोषाः सन्ति न सन्तीति" इत्यादि, तत्त्वो० पृ० ११६।

तो ऐसा मानना होगा कि जयराशिने शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहको जरूर देखा था। शान्तरक्षितका जीवन-काल इतना अधिक विस्तृत है कि वह प्रायः पूरी एक शताब्दीको व्याप्त कर लेता है। शान्तरक्षितका समय ई० स० की आठवीं-नवीं शताब्दी है। इस बातसे भी जयराशिके समय संबन्धी हमारे उक्त अनुमानकी पुष्टि होती है। दस-बीस वर्ष इधर या उधर; पर समय संबन्धी उपर्युक्त अनुमानमें विशेष अन्तर पड़नेकी संभावना बहुत ही कम है।

जयराशिकी पाण्डित्यविषयक योग्यताके विषयमें विचार करनेका साधन, तत्त्वोपप्लवके सिवाय, हमारे सामने और कुछ भी नहीं है। तत्त्वोपप्लवमें एक जगह **लक्षणसार**[1] नामक ग्रन्थका निर्देश है जो जयराशिकी ही कृति जान पड़ती है; परन्तु वह ग्रन्थ अभी तक कहीं उपलब्ध नहीं है। जयराशिकी अन्य कृतियोंके बारेमें और कोई प्रमाण नहीं मिला है; परन्तु प्रस्तुत तत्त्वोपप्लवकी पाण्डित्यपूर्ण एवं बहुश्रुत चर्चाओंको देखनेसे ऐसा माननेका मन हो जाता है कि जयराशिने और भी कुछ ग्रन्थ अवश्य लिखे होंगे। जयराशि दार्शनिक है फिर भी उसके केवल वैयाकरणसुलभ कुछ प्रयोगोंको[2] देख कर यह मानना पड़ता है कि वह वैयाकरण जरूर था। उसकी दार्शनिक लेखन-शैलीमें भी जहाँ-तहाँ आलंकारिकसुलभ व्यङ्गोक्तियाँ और मधुर कटाक्षोंकी भी कहीं-कहीं छटा है[3]। इससे उसके एक अच्छे आलंकारिक होनेमें भी बहुत सन्देह नहीं रहता। जयराशि वैयाकरण या आलंकारिक हो— या न हो, पर वह दार्श-

---

१. 'अव्यपदेश्यपदं च यथा न साधीयः तथा **लक्षणसारे** द्रष्टव्यम्।'— तत्त्वो० पृ० २०।

२. 'जेगीयते'–पृ० २६, ४१। 'जाघटीति' पृ० २७,७६ इत्यादि।

३. 'शृण्वन्तु अमी बाललपितं विपश्चितः!'–पृ० ५। 'अहो राजाज्ञा गरीयसी नैयायिकपशोः!'–पृ० ६। 'तदेतन्महासुभाषितम्!'–पृ० ६। 'न जातु जानते जनाः।'–पृ० ८। 'मरीचयः प्रतिभान्ति देवानांप्रियस्य।' –पृ० १२। 'अहो राजाज्ञा नैयायिकपशोः'–पृ० १४। 'तथापि विद्यमान-योर्बाध्यबाधकभावो भूपालयोरिव'–पृ० १५। 'सोयं गड्डुप्रवेशाक्षितारकवि-निर्गमन्यायोपनिपातः श्रुतिलालसानां दुरुत्तरः।'–पृ० २३। 'बालविलसितम्' –पृ० २६। 'जडचेष्टितम्'–पृ० ३२। 'तदिदं मद्विकल्पान्दोलितबुद्धेः निरुप-पत्तिकाभिधानम्'–पृ० ३३। 'वर्तमानव्यवहारविरहः स्यात्'–पृ० ३७। 'जडमतयः' पृ० ५६। 'सुस्थितं नित्यत्वम्' पृ० ७६।

निक तो पूरा है। उसके अभ्यासका विषय भी कोई एक दर्शन, या किसी एक दर्शनका अमुक ही साहित्य नहीं है, पर उसने अपने समयमें पाए जानेवाले सभी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध दर्शनोंके प्रधान-प्रधान ग्रन्थ अवश्य देखे जान पड़ते हैं। उसने खण्डनीय ऐसे सभी दर्शनोंके प्रधान ग्रन्थोंको केवल स्थूल रूपसे देखा ही नहीं है, परन्तु वह खण्डनीय दर्शनोंके मन्तव्योंको वास्तविक एवं गहरे अभ्यासके द्वारा पी गया-सा जान पड़ता है। वह किसी भी दर्शनके अभिमत प्रमाणलक्षणकी या प्रमेयतत्वकी जब समालोचना करता है तब मानों उस खण्डनीय तत्वको, अर्जुनकी तरह, सैकड़ों[१] ही विकल्प बाणोंसे, व्याप्त कर देता है। जयराशिके उठाए हुए प्रत्येक विकल्पका मूल किसी न किसी दार्शनिक परम्परामें अवश्य देखा जाता है। उससे उसके दार्शनिक विषयोंके तलस्पर्शी अभ्यासके बारेमें तो कोई सन्देह ही नहीं रहता। जयराशिको अपना तो कोई पक्ष स्थापित करना है ही नहीं; उसको तो जो कुछ करना है वह दूसरोंके माने हुए सिद्धान्तोंका खण्डन मात्र। अतएव वह जब तक, अपने समय पर्यन्तमें मौजूद और प्रसिद्ध सभी दर्शनोंके मन्तव्योंका थोड़ा-बहुत खण्डन न करे तब तक, वह अपने ग्रन्थके उद्देश्यको, अर्थात् समग्र तत्त्वोंके खण्डनको, सिद्ध ही नहीं कर सकता। उसने अपना यह उद्देश्य तत्त्वोपप्लव ग्रन्थके द्वारा सिद्ध किया है, और इससे सूचित होता है कि वह समग्र भारतीय दर्शन परम्पराओंका तलस्पर्शी अभ्यासी था। वह एक-एक करके सब दर्शनोंका खण्डन करनेके बाद अन्तमें वैयाकरण दर्शनकी[२] भी पूरी खबर लेता है। जयराशिने वैदिक, जैन और बौद्ध—इन तीनों संप्रदायोंका खण्डन किया है। और फिर वैदिक परम्परा अन्तर्गत न्याय, सांख्य, मीमांसा, वेदान्त और व्याकरण दर्शनका भी खण्डन किया है। जैन संप्रदायको उसने दिगम्बर शब्दसे[३] उल्लिखित किया है।

---

१. 'केयं कल्पना ? किं गुणचलनजात्यादिविशेषणोत्पादितं विज्ञानं कल्पना, आहो स्मृत्युत्पादकं विज्ञानं कल्पना, स्मृतिरूपं वा, स्मृत्युत्पाद्यं वा, अभिलापसंसर्गनिर्भासो वा, अभिलापवती प्रतीतिर्वा कल्पना, अस्पष्टाकारा वा, अतात्त्विकार्थगृहीतिरूपा वा, स्वयं वाऽतात्त्विकी, त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदृग्वा, अतीतानागतार्थनिर्भासा वा ?'—एक कल्पनाके विषयमें ही इतने विकल्प करके और फिर प्रत्येक विकल्पको लेकर भी उत्तरोत्तर अनेक विकल्प करके जयराशि उनका खण्डन करता है।—तत्त्वो० पृ० ३२।

२. तत्त्वोपप्लव, पृ० १२०।

३. ,, पृ० ७६।

बौद्ध मतकी विज्ञानवादी शाखाका, खास कर धर्मकीर्ति और उसके शिष्योंके मन्तव्योंका निरसन किया है।[1] उसका खण्डित वैयाकरण दर्शन महाभाष्यानुगामी[2] भर्तृहरिका दर्शन जान पड़ता है। इस तरह जयराशिकी प्रधान योग्यता दार्शनिक विषयकी है और वह समग्र दर्शनोंसे संबन्ध रखती है।

ग्रन्थ परिचय

नाम—प्रस्तुत ग्रन्थका पूरा नाम है **तत्त्वोपप्लवसिंह** जो उसके प्रारंभिक पद्यमें स्पष्ट रूपसे दिया हुआ है[3]। यद्यपि यह प्रारम्भिक पद्य बहुत कुछ

---

१. प्रमाणसामान्यका लक्षण, जिसका कि खण्डन जयराशिने किया है, धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिकमेंसे लिया गया है (–तत्त्वो० पृ० २८)। प्रत्यक्षका लक्षण भी खण्डन करनेके लिए धर्मकीर्तिके न्यायबिन्दुमेंसे ही लिया गया है (–पृ० ३२)। इसी प्रसंगमें धर्मकीर्ति और उनके शिष्योंने जो सामान्यका खण्डन और सन्तानका समर्थन किया है—उसका खण्डन भी जयराशिने किया है। आगे चलकर जयराशिने (पृ० ८३ से) धर्मकीर्ति सम्मत तीनों अनुमानका खण्डन किया है और उसी प्रसंगमें धर्मकीर्ति और उनके शिष्यों द्वारा किया गया अवयवीनिराकरण, बाह्यार्थविलोप, क्षणिकत्वस्थापन—इत्यादि विषयोंका विस्तारसे खण्डन किया है।

२. अपशब्दके भाषणसे मनुष्य म्लेच्छ हो जाता है अतः साधुशब्दके प्रयोगज्ञानके लिए व्याकरण पढना आवश्यक है, ऐसा महाभाष्यकारका मत है—'म्लेच्छा मा भूम इत्यध्येयं व्याकरणम्' (–पात० महाभाष्य पृ० २२; पं० गुरुप्रसादसंपादित), तथा "एवमिहापि समानायां अर्थावगतौ शब्देन चापशब्देन च धर्मनियमः क्रियते। 'शब्देनैवार्थोऽभिधेयो नापशब्देन' इति एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति"—(पृ० ५८) ऐसा कह करके महाभाष्यकारने साधुशब्दके प्रयोगको ही अभ्युदयकर बताया है। महाभाष्यकारके इसी मतको लक्ष्यमें रखकर भर्तृहरिने अपने वाक्यपदीयमें साधुशब्दोंके प्रयोगका समर्थन किया है और असाधुशब्दोंके प्रयोगका निषेध किया है—

"शिष्टेभ्य आगमात् सिद्धाः साधवो धर्मसाधनम्।
अर्थप्रत्यायनाभेदे विपरीतास्त्वसाधवः॥"

इत्यादि—वाक्यपदीय, १. २७; १. १४१, तथा १४६ से। जयराशिने इस मतका खण्डन किया है—पृ० १२० से।

३. देखो पृ० ८० का टिप्पण २।

खण्डित हो गया है, तथापि दैवयोगसे इस शार्दूलविक्रीडित पद्यका एक पाद बच गया है जो शायद उस पद्यका अंतिम अर्थात् चौथा ही पाद है; और जिसमें ग्रन्थकारने ग्रन्थ रचनेकी प्रतिज्ञा करते हुए इसका नाम भी सूचित कर दिया है। ग्रंथकारने जो **तत्त्वोपप्लवसिंह** ऐसा नाम रखा है और इस नामके साथ जो '**विषमः**' तथा '**मया सृज्यते**' ऐसे पद मिल रहे हैं, इससे जान पड़ता है कि इस पद्यके अनुपलब्ध तीन पादोंमें ऐसा कोई रूपकका वर्णन होगा जिसके साथ 'सिंह' शब्दका मेल बैठ सके। हम दूसरे अनेक ग्रंथोंके प्रारम्भमें ऐसे रूपक पाते हैं जिनमें ग्रन्थकारोंने अपने दर्शनको 'केसरी सिंह' या 'अग्नि'[१] कहा है और प्रतिवादी या प्रतिपक्षभूत दर्शनोंको 'हरिण' या 'ईंधन' कहा है। प्रस्तुत ग्रंथकारका अभिप्रेत रूपक भी ऐसा ही कुछ होना चाहिए, जिसमें कहा गया होगा कि सभी आस्तिक दर्शन या प्रमाणप्रमेयवादी दर्शन मृगप्राय हैं और प्रस्तुत तत्त्वोपप्लव ग्रन्थ उनके लिए एक विषम—भयानक सिंह है। अपने विरोधीके ऊपर या शिकारके ऊपर आक्रमण करनेकी सिंहकी निर्दयता सुविदित है। इसी तरह प्रस्तुत ग्रन्थ भी सभी स्थापित संप्रदायोंकी मान्यताओंका निर्दयतापूर्वक निर्मूलन करनेवाला है। तत्त्वोपप्लवसिंह नाम रखने तथा रूपक करनेमें ग्रन्थकारका यही भाव जान पड़ता है। तत्त्वोपप्लवसिंह यह पूरा नाम ई० १३-१४ वीं शताब्दीके जैनाचार्य मल्लिषेणकी कृति स्याद्वादमञ्जरी (पृ० ११८)में भी देखा जाता है। अन्य ग्रन्थोंमें जहाँ कहीं प्रस्तुत ग्रन्थका नाम आया है वहाँ प्रायः तत्त्वोपप्लव[२] इतना ही संक्षिप्त नाम मिलता है। जान पड़ता है पिछले ग्रन्थकारोंने संक्षेपमें तत्त्वोपप्लव नामका ही प्रयोग करनेमें सुभीता देखा हो।

उद्देश्य—प्रस्तुत ग्रन्थकी रचना करनेमें ग्रन्थकारके मुख्यतया दो उद्देश्य जान पड़ते हैं जो अंतिम भागसे स्पष्ट होते हैं। इनमेंसे, एक तो यह, कि अपने सामने मौजूद ऐसी दार्शनिक स्थिर मान्यताओंका समूलोच्छेद करके यह बतलाना, कि शास्त्रोंमें जो कुछ कहा गया है और उनके द्वारा जो कुछ स्थापन किया जाता है, वह सब परीक्षा करनेपर निराधार सिद्ध होता है। अतएव शास्त्रजीवी सभी व्यवहार, जो सुन्दर व आकर्षक मालूम होते हैं, अविचारके

---

१. "श्रीवीरः स जिनः श्रिये भवतु यत् स्याद्वाददावानले,
भस्मीभूतकुतर्ककाष्ठनिकरे तृप्यन्तिसर्वेऽप्यहो।"
—षड्दर्शनसमुच्चय, गुणरत्नटीका, पृ०. १

२. सिद्धिविनिश्चय, पृ० २८८।

ही परिणाम हैं[१]। इस प्रकार समग्र तत्वोंका खण्डन करके चार्वाक मान्यताका पुनरुज्जीवन करना यह पहला उद्देश्य है। दूसरा उद्देश्य, ग्रन्थकारका यह जान पड़ता है, कि प्रस्तुत ग्रन्थके द्वारा अध्येताओंको ऐसी शिक्षा देना, जिससे वे प्रतिवादियोंका मुँह बड़ी सरलतासे बन्द कर सकें। यद्यपि पहले उद्देश्यकी पूर्ण सफलता विवादास्पद है, पर दूसरे उद्देश्यकी सफलता असंदिग्ध है। ग्रन्थ इस ढंगसे और इतने जटिल विकल्पोंके जालसे बनाया गया है कि एक बार जिसने इसका अच्छी तरह अध्ययन कर लिया हो, और फिर वह जो प्रतिवादियोंके साथ विवाद करना चाहता हो, तो इस ग्रन्थमें प्रदर्शित शैलीके आधार पर सचमुच प्रतिवादीको क्षणभरमें चुप कर सकता है। इस दूसरे उद्देश्यकी सफलताके प्रमाण हमें इतिहासमें भी देखनेको मिलते हैं। ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दीके प्रसिद्ध जैनाचार्य शांतिसूरि—जो वादिवेतालके बिरुदसे सुप्रसिद्ध हैं—के साथ तत्त्वोपप्लवकी मददसे अर्थात् तत्त्वोपप्लव जैसे विकल्पजालकी मददसे चर्चा करनेवाले एक धर्म नामक विद्वानका सूचन, प्रभाचन्द्रसूरिने अपने 'प्रभावक चरित्र'में किया[२] है। बौद्ध और वैदिक सांप्रदायिक विद्वानोंने वाद-विवादमें या शास्त्ररचनामें, प्रस्तुत तत्त्वोपप्लवका उपयोग किया है या नहीं और किया है तो कितना—इसके जाननेका अभी हमारे पास कोई साधन नहीं है; परन्तु जहाँ तक जैन संप्रदायका संबंध है, हमें कहना पड़ता है, कि क्या दिगम्बर-क्या श्वेताम्बर सभी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध जैन विद्वानोंने अपनी ग्रन्थरचनामें और संगत हुआ तो शास्त्रार्थोंमें भी, तत्त्वोपप्लवका थोड़ा बहुत उपयोग अवश्य किया है[३]। और यही खास कारण है कि यह ग्रन्थ अन्यत्र कहीं प्राप्त न होकर जैन ग्रन्थभंडारमें ही उपलब्ध हुआ है।

संदर्भ—प्रस्तुत ग्रन्थका संदर्भ गद्यमय संस्कृतमें है। यद्यपि इसमें अन्य ग्रन्थोंके अनेक पद्यबन्ध अवतरण आते हैं, पर ग्रन्थकारकी कृतिरूपसे तो आदि

---

१. 'तदेवमुपप्लुतेष्वेव तत्त्वेषु अविचारितरमणीयाः सर्वे व्यवहारा घटन्त एव।'
तथा—'पाखण्डखण्डनाभिज्ञा ज्ञानोदधिविवर्द्धिताः।
जयराशेर्जयन्तीह विकल्पा वादिजिष्णवः॥' तत्त्वो० पृ० १२५.

२. सिंघी जैन ग्रन्थमालामें प्रकाशित, प्रभावकचरित, पृ० २२१–२२२। प्रो० रसिकलाल परिख संपादित, काव्यानुशासनकी अँगरेजी प्रस्तावना, पृ० CXLVI; तथा तत्त्वोपप्लवकी प्रस्तावना पृ० ५।

३. अष्टसहस्री, सिद्धिविनिश्चय, न्यायमुकुदचन्द्र, सन्मतिटीका, स्याद्वादरत्नाकर, स्याद्वादमञ्जरी आदि।

और अन्तके मिलाकर कुल तीन ही पद्य इसमें मिलते हैं। बाकी सारा ग्रन्थ सरल गद्यमें है। भाषा प्रसन्न और वाक्य छोटे-छोटे हैं। फिर भी इसमें जो कुछ दुरूहता या जटिलता प्राप्त होती है, वह विचारकी अति सूक्ष्मता और एकके बाद दूसरी ऐसी विकल्पोंकी झड़ीके कारण है।

शैली—प्रस्तुत ग्रन्थकी शैली वैतण्डिक है। वैतण्डिक शैली वह है जिसमें **वितण्डा कथा**का आश्रय लेकर चर्चा की गई हो। **वितण्डा** यह **कथा**के[१] तीन प्रकारोंमेंका एक प्रकार है। दार्शनिक साहित्यमें **वितण्डा कथा**का क्या स्थान है, और वैतण्डिक शैलीके साहित्यमें प्रस्तुत ग्रन्थका क्या स्थान है, इसे समझनेके लिए नीचे लिखी बातोंपर थोड़ा-सा ऐतिहासिक विचार करना आवश्यक है।

(अ) कथाके प्रकार एवं उनका पारस्परिक अन्तर।

(इ) दार्शनिक साहित्यमें **वितण्डा कथा**का प्रवेश और विकास।

(उ) वैतण्डिक शैलीके ग्रन्थोंमें प्रस्तुत ग्रन्थका स्थान।

(अ) दो व्यक्तियों या दो समूहोंके द्वारा की जानेवाली चर्चा, जिसमें दोनों अपने-अपने पक्षका स्थापन और विरोधी परपक्षका निरसन, युक्तिसे करते हों, **कथा** कहलाती है। इसके **वाद, जल्प** और **वितण्डा** ऐसे तीन प्रकार हैं, जो उपलब्ध संस्कृत साहित्यमें सबसे प्राचीन **अक्षपाद**के सूत्रोंमें लक्षण-पूर्वक निर्दिष्ट हैं। **वादकथा**[२] वह है जो केवल सत्य जानने और जतलानेके अभिप्रायसे की जाती है। इस कथाका आन्तरिक प्रेरक तत्त्व केवल सत्यजिज्ञासा है। **जल्पकथा** वह है जो विजयकी इच्छासे या किसी लाभ एवं ख्यातिकी

---

१. कथासे संबंध रखनेवाली अनेक ज्ञातव्य बातोंका परिचय प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवालोंके लिए गुजरातीमें लिखा हुआ हमारा 'कथापद्धतिनुं स्वरूप अने तेना साहित्यनुं दिग्दर्शन' नामक सुविस्तृत लेख (पुरातत्त्व, पुस्तक ३, पृ० १९५) उपयोगी है। इसी तरह उनके वास्ते हिन्दीमें स्वतंत्रभावसे लिखे हुए हमारे वे विस्तृत टिप्पण भी उपयोगी हैं जो 'सिंघी जैन ग्रन्थमाला'में प्रकाशित 'प्रमाणमीमांसा'के भाषाटिप्पणोंमें, पृ० १०८ से पृ० १२३ तक अंकित हैं।

२. 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः। यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः। स्वप्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा।'—न्यायसूत्र १. २. १—३।

इच्छासेकी जाती है। इसका प्रेरक आन्तरिक तत्त्व केवल विजयेच्छा है। **वितण्डा कथा** भी विजयेच्छासे ही की जाती है। इस तरह **जल्प** और **वितण्डा** दो तो विजयेच्छाजनित हैं और **वाद** तत्त्वबोधेच्छाजनित। विजयेच्छाजनित होने पर भी जल्प और वितण्डामें एक अन्तर है, और वह यह कि जल्पकथामें वादी-प्रतिवादी दोनों अपना-अपना पक्ष रखकर, अपने-अपने पक्षका स्थापन करते हुए, विरोधी पक्षका खण्डन करते हैं। जब कि वितण्डा कथामें यह बात नहीं होती। उसमें अपने पक्षका स्थापन किये बिना ही प्रतिपक्षका खण्डन करनेकी एकमात्र दृष्टि रहती है।

यहाँ पर ऐतिहासिक तथा विकास क्रमकी दृष्टिसे यह कहना उचित होगा कि ऊपर जो कथाके तीन प्रकारोंका तथा उनके पारस्परिक अन्तरका शास्त्रीय सूचन किया है, वह विविध विषयके विद्वानोंमें अनेक सदियोंसे चली आती हुई चर्चाका तर्कशुद्ध परिणाम मात्र है। बहुत पुराने समयकी चर्चाओंमें अनेक जुदी-जुदी पद्धतियोंका बीज निहित है। वार्तालापकी पद्धति, जिसे संवादपद्धति भी कहते हैं, प्रश्नोत्तरपद्धति और कथापद्धति—ये सभी प्राचीन कालकी चर्चाओंमें कभी शुद्ध रूपसे तो कभी मिश्रित रूपसे चलती थीं। कथापद्धतिवाली चर्चामें भी **वाद, जल्प** आदि कथाओंका मिश्रण हो जाता था। जैसे-जैसे अनुभव बढ़ता गया और एक पद्धतिमें दूसरी पद्धतिके मिश्रणसे, और खासकर एक कथामें दूसरी कथाके मिश्रणसे, कथाकालमें तथा उसके परिणाममें नानाविध असामञ्जस्यका अनुभव होता गया, वैसे-वैसे कुशल विद्वानोंने कथाके भेदोंका स्पष्ट विभाजन करना भी शुरू कर दिया; और इसके साथ ही साथ उन्होंने हरएक कथाके लिए, अधिकारी, प्रयोजन, नियम-उपनियम आदिकी मर्यादा भी बाँधनी शुरू की। इसका स्पष्ट निर्देश हम सबसे पहले अक्षपादके सूत्रोंमें देखते हैं। कथाका यह शास्त्रीय-निरूपण इसके बादके समग्र वाङ्मयमें आजतक सुस्थिर है। यद्यपि बीच-बीचमें बौद्ध और जैन तार्किकोंने, अक्षपादकी बतलाई हुई कथासंबन्धी मर्यादाका विरोध और परिहास करके, अपनी-अपनी कुछ भिन्न प्रणाली भी स्थापित की है; फिर भी सामान्य रूपसे देखा जाए तो सभी दार्शनिक परम्पराओंमें अक्षपादकी बतलाई हुई कथापद्धतिकी मर्यादाका ही प्रभुत्व बना हुआ है।

(इ) व्याकरण, अलंकार, ज्योतिष, वैद्यक, छन्द और संगीत आदि अनेक ऐसे विषय हैं जिनपर चर्चात्मक संस्कृत साहित्य काफी तादादमें बना है; फिर भी हम देखते हैं कि **वितण्डा कथा**के प्रवेश और विकासका केन्द्र तो केवल दार्शनिक साहित्य ही रहा है। इस अन्तरका कारण, विषयका स्वाभा-

विक स्वरूपभेद ही है। दर्शनोंसे संबन्ध रखनेवाले सभी विषय प्रायः ऐसे ही हैं जिनमें कल्पनाओंके साम्राज्यका यथेष्ट अवकाश है, और जिनकी चर्चामें कुछ भी स्थापन न करना और केवल खण्डन ही खण्डन करना यह भी आकर्षक बन जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि दार्शनिक क्षेत्रके सिवाय अन्य किसी विषयमें वितण्डा कथाके विकास एवं प्रयोगकी कोई गुंजाइश नहीं है।

चर्चा करनेवाले विद्वानोंकी दृष्टिमें भी अनेक कारणोंसे परिवर्तन होता रहता है। जब विद्वानोंकी दृष्टिमें सांप्रदायिक भाव और पक्षाभिनिवेश मुख्यतया काम करते हैं तब उनके द्वारा **वाद कथा**का सम्भव कम हो जाता है। तिस पर भी, जब उनकी दृष्टि आभिमानिक अहंवृत्तिसे और शुष्क वाग्विलासकी कुतूहल वृत्तिसे आवृत हो जाती है, तब तो उनमें **जल्प कथा**का भी सम्भव विरल हो जाता है। मध्य युग और अर्वाचीन युगके अनेक ग्रन्थोंमें **वितण्डा कथा**का आश्रय लिए जानेका एक कारण उपर्युक्त दृष्टिभेद भी है।

ब्राह्मण और उपनिषद् कालमें तथा बुद्ध और महावीरके समयमें चर्चाओंकी भरमार कम न थी, पर उस समयके भारतवर्षीय वातावरणमें धार्मिकता, आध्यात्मिकता और चित्तशुद्धिका ऐसा और इतना प्रभाव अवश्य था कि जिससे उन चर्चाओंमें विजयेच्छाकी अपेक्षा सत्यज्ञानकी इच्छा ही विशेषरूपसे काम करती थी। यही सबब है कि हम उस युगके साहित्यमें अधिकतर **वाद कथा**का ही स्वरूप पाते हैं। इसके साथ हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि उस युगके मनुष्य भी अन्तमें मनुष्य ही थे। अतएव उनमें भी विजयेच्छा, सांप्रदायिकता और अहंताका तत्त्व, अनिवार्य रूपसे थोड़ा बहुत काम करता ही था। जिससे कभी-कभी **वाद कथा**में भी **जल्प** और **वितण्डा**का तथा **जल्प कथा**में वितण्डाका जानते-अनजानते प्रवेश हो ही जाता था। इतना होते हुए भी, इस बातमें कोई संदेह नहीं, कि अंतिम रूपमें उस समय प्रतिष्ठा सत्यज्ञानेच्छाकी और वादकथाकी ही थी। जल्प और वितण्डा कथा करनेवालोंकी तथा किसी भी तरहसे उसका आश्रय लेनेवालोंकी, उतनी प्रतिष्ठा नहीं थी जितनी शुद्ध **वाद कथा** करनेवालोंकी थी।

परंतु, अनेक ऐतिहासिक कारणोंसे, उपर्युक्त स्थितिमें बड़े जोरोंसे अंतर पड़ने लगा। बुद्ध और महावीरके बाद, भारतमें एक तरफसे **शस्त्रविजय**की वृत्ति प्रबल होने लगी; और दूसरी तरफसे उसके साथ-ही-साथ **शास्त्रविजय**की वृत्ति भी उत्तरोत्तर प्रबल होती चली। सांप्रदायिक संघर्ष, जो पहले विद्यास्थान, धर्मस्थान और मठोंहीकी वस्तु थी, वह अब राज-सभा तक जा पहुँचा। इस सबबसे दार्शनिक विद्याओंके क्षेत्रमें जल्प और वितण्डाका प्रवेश अधिकाधिक

होने लगा और उसकी कुछ प्रतिष्ठा भी अधिक बढ़ने लगी। खुल्लमखुल्ला उन लोगोंकी पूजा और प्रतिष्ठा होने लगी जो 'येन केन प्रकारेण' प्रतिवादीको हरा सकते थे एवं हराते थे। अब सभी संप्रदायवादियोंको फिक्र होने लगी, कि किसी भी तरहसे अपने-अपने सम्प्रदायके मंतव्योंकी विरोधी सांप्रदायिकोंसे रक्षा करनी चाहिए। सामान्य मनुष्यमें विजयकी तथा लाभख्यातिकी इच्छा साहजिक ही होती है। फिर उसको बढते हुए संकुचित सांप्रदायिक भावका सहारा मिल जाए, तो फिर कहना ही क्या ? जहाँ देखो वहाँ विद्या पढने-पढानेका, तत्त्व-चर्चा करनेका प्रतिष्ठित लक्ष्य यह समझा जाने लगा, कि **जल्प कथा**से नहीं तो अन्तमें **वितण्डा कथा**से ही सही, पर प्रतिवादीका मुख बंद किया जाए और अपने सांप्रदायिक निश्चयोंकी रक्षा की जाय।

चन्द्रगुप्त और **अशोक**के समयसे लेकर आगेके साहित्यमें हम जल्प और वितण्डाक तत्त्व पहलेकी अपेक्षा कुछ अधिक स्पष्ट पाते हैं। ईसाकी दूसरी तीसर शताब्दीके माने जानेवाले **नागार्जुन** और **अक्षपाद**की कृतियाँ हमारे इस कथनकी साक्षी हैं।

नागार्जुनकी कृति **विग्रहव्यावर्तिनी** को लीजिए या **माध्यमिककारिका**को लीजिए और ध्यानसे उनका अवलोकन कीजिए, तो पता चल जाएगा कि दार्शनिक चिन्तनमें वादकी आडमें, या वादका दामन पकड़कर उसके पीछे-पीछे, जल्प और वितण्डाका प्रवेश किस कदर होने लग गया था। हम यह तो निर्णयपूर्वक कभी कह नहीं सकते कि नागार्जुन सत्य-जिज्ञासासे प्रेरित था ही नहीं, और उसकी कथा सर्वथा वादकोटिसे बाह्य है; पर इतना तो हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि नागार्जुनकी समग्र शैली, जल्प और वितण्डा कथाके इतनी नजदीक है कि उसकी शैलीका साधारण अभ्यासी, बड़ी सरलतासे, जल्प और वितण्डा कथाकी ओर लुढ़क सकता है।

अक्षपादने अपने अतिमहत्त्वपूर्ण सूत्रात्मक संग्रह ग्रथमें **वाद, जल्प** और **वितण्डा**का, केवल अलग-अलग लक्षण ही नहीं बतलाया है बल्कि उन कथाओं के अधिकारी, प्रयोजन आदिकी पूरी मर्यादा भी सूचित की है। निःसंदेह अक्षपादने अपने सूत्रोंमें जो कुछ कहा है और जो कुछ स्पष्टीकरण किया है, वह केवल उनकी कल्पना या केवल अपने समयकी स्थितिका चित्रण मात्र ही नहीं है, बल्कि उनका यह निरूपण, अतिपूर्वकालसे चली आती हुई दार्शनिक विद्वानोंकी मान्यताओंका तथा विद्याके क्षेत्रमें विचरनेवालोंकी मनोदशाका जीवित प्रतिबिम्ब है। निःसंदेह अक्षपादकी दृष्टिमें वास्तविक महत्व तो 'वादकथा'का ही है, फिर भी वह स्पष्टता तथा बलपूर्वक, यह भी मान्यता प्रकट करता है कि केवल

'जल्प' ही नहीं बल्कि 'वितण्डा' तकका भी आश्रय लेकर अपने तत्त्वज्ञानकी तथा अपने सम्प्रदायके मंतव्योंकी रक्षा करनी चाहिए। कांटे भले ही फेंक देने योग्य हों, फिर भी पौधोंकी रक्षाके वास्ते वे कभी-कभी बहुत उपादेय भी हैं। अक्षपादने इस दृष्टान्तके द्वारा 'जल्प' और 'वितण्डाकथा'का पूर्व समयसे माना जानेवाला मात्र औचित्य ही प्रकट नहीं किया है, बल्कि उसने खुद भी अपने सूत्रोंमें, कभी-कभी पूर्वपक्षीको निरस्त करनेके लिए, स्पष्ट या अस्पष्ट रूपसे, 'जल्प'का और कभी 'वितण्डा' तकका आश्रय लिया जान पड़ता है।[१]

मनुष्यकी साहजिक विजयवृत्ति और उसके साथ मिली हुई सांप्रदायिक मोहवृत्ति—ये दो कारण तो दार्शनिक क्षेत्रमें थे ही, फिर उन्हें ऋषिकल्प विद्वानोंके द्वारा किये गए 'जल्प' और 'वितण्डा कथा'के प्रयोगके समर्थनका सहारा मिला, तथा कुछ असाधारण विद्वानोंके द्वारा उक्त कथाकी शैलीमें लिखे गए ग्रन्थोंका भी समर्थन मिला। ऐसी स्थितिमें फिर तो कहना ही क्या था ? आगमें घृताहुतिकी नौबत आ गई। जहाँ देखो वहाँ अकसर दार्शनिक क्षेत्रमें 'जल्प' और 'वितण्डा' का ही बोलबाला शुरू हुआ। यहाँतक कि एक बार ही नहीं बल्कि अनेक बार 'जल्प' और 'वितण्डा' कथाके प्रयोगका निषेध करनेवाले तथा उसका अनौचित्य बतलानेवाले बुद्धि एवं चरित्र प्रगल्भ ऐसे खुद बौद्ध तथा जैन तत्त्वसंस्थापक विद्वान् तथा उनके उत्तराधिकारी भी 'जल्प' और 'वितण्डा' कथाकी शैलीसे या उसके प्रयोगसे बिलकुल अछूते रह न सके। कभी-कभी तो उन्होंने यह भी कह दिया कि यद्यपि 'जल्प' और 'वितण्डा' सर्वथा वर्ज्य है तथापि परिस्थिति विशेषमें उसका भी उपयोग है।[२]

इस तरह कथाओंके विधि-निषेधकी दृष्टिसे, या कथाओंका आश्रय लेकर की जानेवाली ग्रन्थकारकी शैलीकी दृष्टिसे, हम देखें, तो हमें स्पष्टतया मालूम पड़ता है कि **वात्स्यायन, उद्द्योतकर, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, सिद्धसेन, समन्तभद्र, कुमारिल, शंकराचार्य** आदिकी कृतियाँ 'शुद्ध वादकथा' के नमूने नहीं हैं। जहाँतक अपने-अपने संप्रदायका तथा उसकी अवांतर शाखाओंका संबंध है वहाँतक तो, उनकी कृतियोंमें 'वादकथा'का तत्त्व सुरक्षित है, पर जब विरोधी संप्रदायके साथ चर्चाका मौका आता है तब ऐसे

---

१. देखो न्यायसूत्र, ४. २. ४७।

२. देखो, उ० यशोविजयजीकृत वादद्वात्रिंशिका, श्लो०, ६—

अयमेव विधेयस्तत् तत्त्वज्ञेन तपस्विना।
देशाद्यपेक्षयाऽन्योऽपि विज्ञाय गुरुलाघवम्॥

विशिष्ट विद्वान् भी, थोड़े बहुत प्रमाणमें, विशुद्ध 'जल्प' और 'वितण्डा' कथाकी ओर नहीं तो कमसे कम उन कथाओंकी शैलीकी ओर तो, अवश्य ही झुक जाते हैं। दार्शनिक विद्वानोंकी यह मनोवृत्ति नवीं सदीके बादके साहित्यमें तो और भी तीव्रतर होती जाती है। यही सबब है कि हम आगेके तीनों मतोंके साहित्यमें विरोधी संप्रदायके विद्वानों तथा उनके स्थापकोंके प्रति अत्यंत कटुआपनका तथा तिरस्कारका[1] भाव पाते हैं।

मध्य युगके तथा अर्वाचीन युगके बने हुए दार्शनिक साहित्यमें ऐसा भाग बहुत बड़ा है जिसमें 'वाद'की अपेक्षा 'जल्पकथा'का ही प्राधन्य है। नागार्जुनने जिस 'विकल्पजाल'की प्रतिष्ठा की थी और बादके बौद्ध, वैदिक तथा जैन तार्किकोंने जिसका पोषण एवं विस्तार किया था, उसका विकसित तथा विशेष दुरूह स्वरूप हम **श्रीहर्षके खण्डनखण्डखाद्य** एवं **चित्सुखाचार्य**की **चित्सुखी** आदिमें पाते हैं।[2] बेशक ये सभी ग्रन्थ 'जल्प कथा'की ही प्रधानतावाले हैं, क्योंकि इनमें लेखकका उद्देश्य स्वपक्षस्थापन ही है, फिर भी इन ग्रन्थोंकी शैलीमें 'वितण्डा'की छाया अति स्पष्ट है। यों तो 'जल्प' और 'वितण्डा' कथाके बीचका अन्तर इतना कम है कि अगर ग्रन्थकारके मनोभाव और उद्देश्यकी तरफ हमारा ध्यान न जाए, तो अनेक बार हम यह निर्णय ही नहीं कर सकते कि यह ग्रन्थ 'जल्प शैली'का है, या वितण्डा शैलीका। जो कुछ हो, पर उपर्युक्त चर्चासे हमारा अभिप्राय इतना ही मात्र है कि मध्य युग तथा अर्वाचीन युगके सारे साहित्यमें शुद्ध वितण्डाशैलीके ग्रन्थ नाममात्रके हैं।

(उ) हम दार्शनिक साहित्यकी शैलीको संक्षेपमें पाँच विभागोंमें बाँट सकते हैं—

(१) कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनकी शैली मात्र प्रतिपादनात्मक है, जैसे—

---

१. इस विषयमें गुजरातीमें लिखी हुई 'साम्प्रदायिकता अने तेना पुरावाओनुं दिग्दर्शन' नामक हमारी लेखमाला, जो पुरातत्त्व, पुस्तक ४, पृ० १६६ से शुरू होती है, देखें।

२. हेतुविडम्बनोपाय अभी छपा नहीं है। इसके कर्ताका नाम ज्ञात नहीं हुआ। इसकी लिखित प्रति पाटणके किसी भाण्डारमें भी होनेका स्मरण है। इसकी एक प्रति पूनाके भाण्डारकर इन्स्टिट्यूटमें है जिसके ऊपरसे न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारने एक नकल कर ली है। वही इस समय हमारे सम्मुख है।

माण्डूक्यकारिका, सांख्यकारिका, तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, अभिधर्म-कोष, प्रशस्तपादभाष्य, न्यायप्रवेश, न्यायबिन्दु आदि।

(२) कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें स्वसंप्रदायके प्रतिपादनका भाग अधिक और अन्य संप्रदायके खण्डनका भाग कम है—जैसे **शाबरभाष्य**।

(३) कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें परमतोंका खण्डन विस्तारसे है और स्वमतका स्थापन थोड़ेमें हैं, जैसे—**माध्यमिक कारिका, खण्डनखण्ड-खाद्य** आदि।

(४) कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें खण्डन और मण्डन समप्रमाण है या साथ-ही-साथ चलता है, जैसे—**वात्स्यायन भाष्य, मीमांसा श्लोकवार्तिक, शांकरभाष्य, प्रमाणवार्तिक** आदि।

(५) बहुत थोड़े पर ऐसे ग्रंथ भी मिलते हैं जिनमें स्वपक्षके प्रतिपादनका नामोनिशान तक नहीं है और दूसरेके मन्तव्योंका खण्डन-ही-खण्डन मात्र है। ऐसे शुद्ध वैतण्डिक शैलीके ग्रन्थ इस समय हमारे सामने दो हैं—एक प्रस्तुत **तत्त्वोपप्लवसिंह** और दूसरा **हेतुविडम्बनोपाय**[१]।

इस विवेचनासे प्रस्तुत तत्त्वोपप्लव ग्रन्थकी शैलीका दार्शनिक शैलियोंमें क्या स्थान है यह हमें स्पष्ट मालूम पड़ जाता है।

यद्यपि 'तत्त्वोपप्लवसिंह और 'हेतुविडम्बनोपाय' इन दोनोंकी शैली शुद्ध खण्डनात्मक ही है, फिर भी इन दोनोंकी शैलीमें थोड़ासा अन्तर भी है जो मध्ययुगीन और अर्वाचीनकालीन शैलीके भेदका स्पष्ट द्योतक है।

दसवीं शताब्दीके पहलेके दार्शनिक साहित्यमें व्याकरण और अलंकारके पाण्डित्यको पेट भरकर व्यक्त करनेकी कृत्रिम कोशिश नहीं होती थी। इसी तरह उस युगके व्याकरण तथा अलंकार विषयक साहित्यमें, न्याय एवं दार्शनिक तत्त्वोंको लबालब भर देनेकी भी अनावश्यक कोशिश नहीं होती थी। जब कि दसवीं सदीके बादके साहित्यमें हम उक्त दोनों कोशिशें उत्तरोत्तर अधिक परिमाणमें पाते हैं। दसवीं सदीके बादका दार्शनिक, अपने ग्रन्थकी रचनामें तथा प्रत्यक्ष चर्चा करनेमें, यह ध्यान अधिकसे अधिक रखता है, कि उसके ग्रन्थमें और संभाषणमें, व्याकरणके नव-नव और जटिल प्रयोगोंकी तथा आलंकारिक तत्त्वोंकी वह अधिकसे अधिक मात्रा किस तरह दिखा सके। वादी देवसूरिका **स्याद्वादरत्नाकर**, श्रीहर्षका **खण्डनखण्डखाद्य**, **रत्नमण्डनकी जल्पकल्पलता** आदि दार्शनिक ग्रन्थ उक्त वृत्तिके नमूने हैं। दूसरी तरफसे वैयाकरणों और आलंकारिकोंमें भी एक ऐसी वृत्तिका उदय हुआ, जिससे प्रेरित होकर वे न्यायशास्त्रके नवीन तत्त्वोंको एवं जटिल परिभाषाओंको

अपने विषयके सूक्ष्म चिंतनमें ही नहीं पर प्रतिवादीको चुप करनेके लिए भी काममें लाने लगे। बारहवीं सदीके **गंगेशने** 'अवच्छेदकता', 'प्रकारता', 'प्रतियोगिता' आदि नवीन परिभाषाके द्वारा न्यायशास्त्रके बाह्य तथा आन्तरिक स्वरूपमें युगान्तर उपस्थित किया और उसके उत्तराधिकारी मैथिल एवं बंगाली तार्किकोंने उस दिशामें आश्चर्यजनक प्रगति की। न्यायशास्त्रकी इस सूक्ष्म पर जटिल परिभाषाको तथा विचारसरणीको वैयाकरणों और आलंकारिकों तकने अपनाया। वे न्यायकी इस नवीन परिभाषाके द्वारा प्रतिवादियोंको परास्त करनेकी भी वैसी ही कोशिश करने लगे, जैसी कुछ दार्शनिक विद्वान् व्याकरण और अलंकारकी चमत्कृतिके द्वारा करने लगे थे। **नागोजी भट्ट**के **शब्देन्दु-शेखर** आदि ग्रन्थ तथा **जगन्नाथ** कविराजके **रसगंगाधर** आदि ग्रन्थ नवीन न्यायशैलीके जीवंत नमूने हैं।

यद्यपि 'हेतुविडम्बनोपाय'की शैली 'तत्त्वोपप्लवसिंह'की शैली जैसी शुद्ध वैतण्डिक ही है, फिर भी दोनोंमें युगभेदका अन्तर स्पष्ट है। तत्त्वोपप्लवसिंहमें दार्शनिक विचारोंकी सूक्ष्मता और जटिलता ही मुख्य है, भाषा और अलंकारकी छटा उसमें वैसी नहीं है। जब कि हेतुविडम्बनोपायमें वैयाकरणोंके तथा आलंकारिकोंके भाषा-चमत्कारकी आकर्षक छटा है। इसके सिवाय इन दोनों ग्रन्थोंमें एक अन्तर और भी है जो प्रतिपाद्य विषयसे संबंध रखता है। तत्त्वोपप्लवसिंहका खण्डनमार्ग समग्र तत्त्वोंको लक्ष्यमें रखकर चला है, अतएव उसमें दार्शनिक परंपराओंमें माने जानेवाले समस्त प्रमाणोंका एक-एक करके खण्डन किया गया है; जब कि हेतुविडम्बनोपायका खण्डनमार्ग केवल अनु-मानके हेतुको लक्ष्यमें रख कर शुरू हुआ है, इसलिए उसमें उतने खण्डनीय प्रमाणोंका विचार नहीं है जितनोंका तत्त्वोपप्लवमें है।

इसके सिवाय एक बड़े महत्त्वकी ऐतिहासिक वस्तुका भी निर्देश करना यहाँ जरूरी है। तत्त्वोपप्लवसिंहका कर्ता **जयराशि** तत्त्वमात्रका वैतण्डिक शैलीसे खण्डन करता है और अपनेको **बृहस्पति**की परम्पराका बतलाता है। जब कि हेतुविडम्बनोपायका कर्ता जो कोई जैन है—जैसा कि उसके प्रारम्भिक भागसे[1] स्पष्ट है—आस्तिक रूपसे अपने इष्ट देवको नमस्कार भी करता है और केवल खण्डनचातुरीको दिखानेके वास्ते ही हेतुविडम्बनोपायकी रचना

---

१. 'प्रणम्य श्रीमदर्हन्तं परमात्मानमव्ययम्।
हेतोर्विडम्बनोपायो निरपायः प्रतायते॥'

करना बतलाता है[1]। जयराशिका उद्देश्य केवल खण्डनचातुरी बतलानेका या उसे दूसरोंको सिखानेका ही नहीं है बल्कि अपनी चार्वाक मान्यताका एक नया रूप प्रदर्शित करनेका भी है। इसके विपरीत हेतुविडम्बनोपायके रचयिताका उद्देश्य अपनी किसी परम्पराके स्वरूपका बतलाना नहीं है। उसका उद्देश्य सिर्फ यही बतलानेका है कि विवाद करते समय अगर प्रतिवादीको चुप करना हो तो उसके स्थापित पक्षमेंसे एक साध्य या हेतुवाक्यकी परीक्षा करके या उसका समूल खण्डन करके किस तरह उसे चुप किया जा सकता है।

चार्वाक दर्शनमें प्रस्तुत ग्रन्थका स्थान

प्रस्तुत ग्रन्थ चार्वाक संप्रदायका होनेसे इस जगह इस संप्रदायके संबन्धमें नीचे लिखी बातें ज्ञातव्य हैं।

(अ) चार्वाक संप्रदायका इतिहास

(इ) भारतीय दर्शनोंमें उसका स्थान

(उ) चार्वाक दर्शनका साहित्य

(अ) पुराने उपनिषदोंमें[2] तथा **सूत्रकृताङ्ग**[3] जैसे प्राचीन माने जानेवाले जैन आगममें भूतवादी या भूतचैतन्यवादी रूपसे चार्वाक मतका निर्देश है। **पाणिनि**के सूत्रमें आनेवाला नास्तिक शब्द भी अनात्मवादी चार्वाक मतका ही सूचक है। बौद्ध **दीघनिकाय**में भी भूतवादी और अक्रियवादी रूपसे दो

---

१. ग्रन्थकार शुरूमें ही कहता है कि—"इह हि यः कश्चिद्विपश्चित् प्रचण्डप्रामाणिकप्रकाण्डश्रेणीशिरोमणीयमानः सर्वाङ्गीणानणीयः प्रमाणधोरणीप्रगुणीभवदखण्डपाण्डित्योड्डामरतां स्वात्मनि मन्यमानः स्वान्यानन्यतमसौजन्यधन्यत्रिभुवनमान्यवदान्यगणावगणनानुगुणानणुतत्तद्गुणितिरणरणकरंरणज्जिस्समानाभिमानः अप्रतिहतप्रसरप्रवरनिरवद्यसद्यस्कानुमानपरम्परापराबोभवितनिस्तुषमनीषाविशेषोन्मिषन्मनीषिपरिषज्जाग्रत्प्रत्यग्रोदग्रमहीयोमहीयसन्मानः शतमखगुरुमुखादृगविमुखताकारिहारिसर्वतोमुखशेमुषीमुखरासंख्यसंख्यावद्विख्याते पर्षद्विदितसमग्रतर्ककर्कशवितर्कणाप्रवणः प्रामाणिकग्रामणीः प्रमाणयति तस्याशयस्याहङ्कारप्राग्भारतिरस्काराय चारुविचारचातुरीगरीयश्चतुरनरचेतश्चमत्काराय च किञ्चिदुच्यते।"

२. "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्यसंज्ञा अस्तीति"—बृहदारण्यकोपनिषद्. ४, १२.

३. सूत्रकृताङ्ग, पृ० १४, २८१।

तीर्थिकोंका सूचन है[1]। चाणक्यके अर्थशास्त्रमें लोकायतिक मतका निर्देश उसी भूतवादी दर्शनका बोधक है। इस तरह 'नास्तिक' 'भूतवादी' 'लोकायतिक' 'अक्रियवादी' आदि जैसे शब्द इस संप्रदायके अर्थमें मिलते हैं। पर उस प्राचीन कालके साहित्यमें 'चार्वाक' शब्दका पता नहीं चलता। चार्वाक मतका पुरस्कर्ता कौन था इसका भी पता उस युगके साहित्यमें नहीं मिलता। उसके पुरस्कर्ता रूपसे बृहस्पति, देवगुरु आदिका जो मन्तव्य प्रचलित है वह संभवतः पौराणिकोंकी कल्पनाका ही फल है। पुराणोंमें[2] चार्वाक मतके प्रवर्तकका जो वर्णन है वह कितना साधार है यह कहना कठिन है। फिर भी पुराणोंका वह वर्णन, अपनी मनोरञ्जकता तथा पुराणोंकी लोकप्रियताके कारण, जनसाधारणमें और विद्वानोंमें भी रूढ हो गया है; और सब कोई निर्विवाद रूपसे यही कहते और मानते आए हैं कि बृहस्पति ही चार्वाक मतका पुरस्कर्ता है। जहाँ कहीं चार्वाक मतके निदर्शक वाक्य या सूत्र मिलते हैं वहाँ वे[3] बृहस्पति, सुरगुरु[4] आदि नामके साथ ही उद्धृत किये हुए पाए जाते हैं।

(ङ) भारतीय दर्शनोंको हम संक्षेपमें चार विभागोंमें बाँट सकते हैं।

१. इन्द्रियाधिपत्य पक्ष
२. अनिन्द्रियाधिपत्य पक्ष
३. उभयाधिपत्य पक्ष
४. आगमाधिपत्य पक्ष

१. जिस पक्षका मन्तव्य यह है कि प्रमाणकी सारी शक्ति इन्द्रियोंके ऊपर ही अवलम्बित है। मन खुद इन्द्रियोंका अनुगमन कर सकता है पर वह इन्द्रियोंकी मददके सिवाय कहीं भी अर्थात् जहाँ इन्द्रियोंकी पहुँच न हो वहाँ—प्रवृत्त होकर सच्चा ज्ञान पैदा कर ही नहीं सकता, सच्चे ज्ञानका अगर सम्भव है तो वह इन्द्रियोंके द्वारा ही—यह है इन्द्रियाधिपत्य पक्ष। इस पक्षमें चार्वाक दर्शन ही समाविष्ट है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि चार्वाक अनुमान या

---

१. देखो, दीघनिकाय, ब्रह्मजालसुत्त, पृ० १२; तथा सामञ्ञफलसुत्त, पृ० २०—२१।

२. विष्णुपुराण, तृतीयअंश, अध्याय—१७। कथाके लिए देखो सर्वदर्शनसंग्रहका पं० अभ्यंकरशास्त्री लिखित उपोद्घात, पृ० १३२।

३. तत्त्वोपप्लव, पृ० ४५।

४. तत्त्वोपप्लवमें बृहस्पतिको सुरगुरु भी कहा है—पृ० १२५। खण्डनखण्डखाद्यमें भगवान् सुरगुरुको लोकायतिक सूत्रका कर्ता कहा गया है—पृ० ७।

शब्दव्यवहार रूप आगम आदि प्रमाणोंको, जो प्रतिदिन सर्वसिद्ध व्यवहारकी वस्तु है, न मानता हो; फिर भी चार्वाक अपनेको जो प्रत्यक्षमात्रवादी—इन्द्रिय प्रत्यक्षमात्रवादी कहता है, इसका अर्थ इतना ही है कि अनुमान, शब्द आदि कोई भी लौकिक प्रमाण क्यों न हो, पर उसका प्रामाण्य इन्द्रिय प्रत्यक्षके संवादके सिवाय कभी सम्भव नहीं। अर्थात् इन्द्रिय प्रत्यक्षसे बाधित नहीं ऐसा कोई भी ज्ञानव्यापार यदि प्रमाण कहा जाए तो इसमें चार्वाकको आपत्ति नहीं।

२. अनिन्द्रियके अन्तःकरण—मन, चित्त और आत्मा ऐसे तीन अर्थ फलित होते हैं, जिनमेंसे चित्तरूप अनिन्द्रियका आधिपत्य माननेवाला अनिन्द्रियाधिपत्य पक्ष है। इस पक्षमें **विज्ञानवाद, शून्यवाद** और **शाङ्कर-वेदान्त**का समावेश होता है। इस पक्षके अनुसार यथार्थज्ञानका सम्भव विशुद्ध चित्तके द्वारा ही माना जाता है। यह पक्ष इन्द्रियोंकी सत्यज्ञानजननशक्तिका सर्वथा इन्कार करता है और कहता है कि इन्द्रियाँ वास्तविक ज्ञान करानेमें पंगु ही नहीं बल्कि धोखेबाज भी अवश्य हैं। इनके मन्तव्यका निष्कर्ष इतना ही है कि चित्त—खासकर ध्यानशुद्ध सात्त्विक चित्तसे बाधित या उसका संवाद प्राप्त न कर सकनेवाला कोई ज्ञान प्रमाण हो ही नहीं सकता, चाहे वह फिर भले ही लोकव्यवहारमें प्रमाण रूपसे माना जाता हो।

३. उभयाधिपत्य पक्ष वह है जो चार्वाककी तरह इन्द्रियोंको ही सब कुछ मानकर इन्द्रिय निरपेक्ष मनका असामर्थ्य स्वीकार नहीं करता; और न इन्द्रियोंको ही पंगु या धोखेबाज मानकर केवल अनिन्द्रिय या चित्तका ही सामर्थ्य स्वीकार करता है। यह पक्ष मानता है कि चाहे मनकी मददसे ही सही, पर इन्द्रियाँ गुणसम्पन्न हो सकती हैं और वास्तविक ज्ञान पैदा कर सकती हैं। इसी तरह यह पक्ष यह भी मानता है कि इन्द्रियोंकी मदद जहाँ नहीं है वहाँ भी अनिन्द्रिय यथार्थ ज्ञान करा सकता है। इसीसे इसे उभयाधिपत्य पक्ष कहा है। इसमें **सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक** और **मीमांसक** आदि दर्शनोंका समावेश है। सांख्य-योग इन्द्रियोंका साद्‌गुण्य मान कर भी अन्तःकरणकी स्वतंत्र यथार्थशक्ति मानता है। न्याय-वैशेषिक आदि भी मनकी वैसी ही शक्ति मानते हैं; पर फर्क यह है कि सांख्य-योग आत्माका स्वतंत्र प्रमाणसामर्थ्य नहीं मानते। क्योंकि वे प्रमाणसामर्थ्य बुद्धिमें ही मान कर पुरुष या चेतनको निरतिशय मानते हैं; जब कि न्याय-वैशेषिक आदि, चाहे ईश्वरकी आत्माका ही सही, पर आत्माका स्वतन्त्र प्रमाणसामर्थ्य मानते हैं। अर्थात् वे शरीर-मनका अभाव होनेपर भी ईश्वरमें ज्ञानशक्ति मानते हैं। वैभाषिक और सौत्रान्तिक

भी इसी पक्षके अन्तर्गत हैं, क्योंकि वे भी इन्द्रिय और मन दोनोंका प्रमाण-सामर्थ्य मानते हैं।

४. आगमाधिपत्य पक्ष वह है जो किसी-न-किसी विषयमें आगमके सिवाय किसी इन्द्रिय या अनिन्द्रियका प्रमाणसामर्थ्य स्वीकार नहीं करता। यह पक्ष केवल **पूर्वमीमांसा**का ही है। यद्यपि वह अन्य विषयोंमें सांख्ययोगादिकी तरह उभयाधिपत्य पक्षका ही अनुगामी है, फिर भी धर्म और अधर्म इन दो विषयोंमें वह आगम मात्रका ही सामर्थ्य मानता है। यों तो **वेदान्त**के अनुसार ब्रह्मके विषयमें भी आगमका ही प्राधान्य है; फिर भी वह आगमाधिपत्य पक्षमें इसलिए नहीं आ सकता कि ब्रह्म विषयमें ध्यानशुद्ध अन्तःकरणका भी सामर्थ्य उसे मान्य है।

इस तरह, चार्वाक मान्यता इन्द्रियाधिपत्य पक्षकी अनुवर्तिनी ही सर्वत्र मानी जाती है। फिर भी प्रस्तुत ग्रन्थ उस मान्यताके विषयमें एक नया प्रस्थान उपस्थित करता है। क्योंकि इसमें इन्द्रियोंकी यथार्थज्ञान उत्पन्न करनेकी शक्तिका भी खण्डन किया गया है और लौकिक प्रत्यक्ष तकको भी प्रमाण माननेसे इन्कार कर दिया है। अतएव प्रस्तुत ग्रन्थके अभिप्रायसे चार्वाक मान्यता दो विभागोंमें बँट जाती है। पूर्वकालीन मान्यता इन्द्रियाधिपत्य पक्षमें जाती है, और **जयराशि**की नई मान्यता प्रमाणोपप्लव पक्षमें आती है।

(उ) चार्वाक मान्यता का कोई पूर्ववर्ती ग्रन्थ अखण्ड रूपसे उपलब्ध नहीं है। अन्य दर्शन ग्रन्थोंमें पूर्वपक्ष रूपसे चार्वाक मतके मन्तव्यके साथ कहीं-कहीं जो कुछ वाक्य या सूत्र उद्धृत किये हुए मिलते हैं, यही उसका एक मात्र साहित्य है। यह भी जान पड़ता है कि चार्वाक मान्यताको व्यवस्थित रूपसे लिखनेवाले विद्वान् शायद हुए ही नहीं। जो कुछ बृहस्पतिने कहा उसीका छिन्नभिन्न अंश उस परम्पराका एक मात्र प्राचीन साहित्य कहा जा सकता है। उसी साहित्यके आधार पर पुराणोंमें भी चार्वाक मतको पल्लवित किया गया है। आठवीं सदीके जैनाचार्य **हरिभद्र**के **षड्दर्शनसमुच्चय**में और तेरहवीं-चौदहवीं सदीके **माधवाचार्य** कृत **सर्वदर्शनसंग्रह**में चार्वाक मतके वर्णनके साथ कुछ पद्य उद्धृत मिलते हैं। पर जान पड़ता है, कि ये सब पद्य, किसी चार्वाकाचार्यकी कृति न होकर, और और विद्वानोंके द्वारा चार्वाक-मत-वर्णन रूपसे वे समय-समय पर बने हुए हैं।

इस तरह चार्वाक दर्शनके साहित्यमें प्रस्तुत ग्रन्थका स्थान बड़े महत्त्वका है। क्योंकि यह एक ही ग्रन्थ हमें ऐसा उपलब्ध है जो चार्वाक मान्यताका अखण्ड ग्रन्थ कहा जा सकता है।

विषय परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थमें किस-किस विषयकी चर्चा है और वह किस प्रकार की गई है इसका संक्षिप्त परिचय प्राप्त करनेके लिए नीचे लिखी बातों पर थोड़ासा प्रकाश डालना जरूरी है।

(१) ग्रन्थकारका उद्देश्य और उसकी सिद्धिके वास्ते उसके द्वारा अवलंबित मार्ग।

(२) किन-किन दर्शनोंके और किन-किन आचार्योंके सम्मत प्रमाणलक्षणोंका खण्डनीय रूपसे निर्देश है।

(३) किन-किन दर्शनोंके कौन-कौनसे प्रमेयोंका प्रासंगिक खण्डनके वास्ते निर्देश है।

(४) पूर्वकालीन और समकालीन किन-किन विद्वानोंकी कृतियोंसे खण्डन-सामग्री ली हुई जान पड़ती है।

(५) उस खण्डन-सामग्रीका अपने अभिप्रेतकी सिद्धिमें ग्रन्थकारने किस तरह उपयोग किया है।

(१) हम पहले ही कह चुके हैं कि ग्रन्थकारका उद्देश्य, समग्र दर्शनोंकी छोटी-बड़ी सभी मान्यताओंका एकमात्र खण्डन करना है। ग्रन्थकारने यह सोचकर कि सब दर्शनोंके अभिमत समग्र तत्वोंका एक-एक करके खण्डन करना संभव नहीं; तब यह विचार किया होगा कि ऐसा कौन मार्ग है जिसका सरलतासे अवलम्बन हो सके और जिसके अवलम्बनसे समग्र तत्त्वोंका खण्डन आप-ही-आप सिद्ध हो जाए। इस विचारमेंसे ग्रन्थकारको अपने उद्देश्यकी सिद्धिका एक अमोघ मार्ग सूझ पड़ा, और वह यह कि अन्य सब बातोंके खण्डनकी ओर मुख्य लक्ष्य न देकर केवल प्रमाणखण्डन ही किया जाए, जिससे प्रमाणके आधारसे सिद्ध किये जानेवाले अन्य सब तत्त्व या प्रमेय अपने आप ही खण्डित हो सकें। जान पड़ता है ग्रन्थकारके मनमें जब यह निर्णय स्थिर बन गया तब फिर उसने सब दर्शनोंके अभिमत प्रमाणलक्षणोंके खण्डनकी तैयारी की। ग्रन्थके प्रारम्भमें ही वह अपने इस भावको स्पष्ट शब्दोंमें व्यक्त करता है। वह सभी प्रमाण प्रमेयवादी दार्शनिकोंको ललकार कर कहता है[1] कि—'**आप लोग जो प्रमाण और प्रमेयकी व्यवस्था मानते हैं उसका**

---

१. 'अथ कथं तानि न सन्ति? तदुच्यते—सल्लक्षणनिबन्धनं मानव्यवस्थानम्, माननिबन्धना च मेयस्थितिः, तदभावे तयोः सद्व्यवहारविषयत्वं कथम्?........इत्यादि। तत्त्वोपप्लव, पृ० १.।

आधार है प्रमाणका यथार्थ लक्षण। परन्तु विचार करने पर जब कोई प्रमाणका लक्षण ही निर्दोष सिद्ध नहीं होता तब उसके आधार पर बतलाई जानेवाली प्रमाण प्रमेयकी व्यवस्था कैसे मानी जा सकती है?' ऐसा कहकर, वह फिर एक-एक करके प्रमाणलक्षणका क्रमशः खण्डन करना आरंभ करता है। इसी तरह ग्रन्थके अन्तमें भी उसने अपने इस निर्णीत मार्गको दोहराया है और उसकी सफलता भी सूचित की है। उसने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि—'**जब कोई प्रमाणलक्षण ही ठीक नहीं बनता तब सब तत्त्व आप ही आप बाधित या असिद्ध हो जाते हैं। ऐसी दशामें बाधित तत्त्वोंके आधारपर चलाये जानेवाले सब व्यवहार वस्तुतः अविचाररमणीय ही हैं।**' अर्थात् शास्त्रीय और लौकिक अथवा इहलौकिक और पारलौकिक—सब प्रवृत्तियोंकी सुन्दरता सिर्फ अविचारहेतुक ही है। विचार करनेपर वे सब व्यवहार निराधार सिद्ध होनेके कारण निर्जीव जैसे शोभाहीन हैं। ग्रन्थकारने अपने निर्णयके अनुसार यद्यपि दार्शनिकोंके अभिमत प्रमाणलक्षणोंको ही खण्डनीय रूपसे मीमांसा शुरू की है और उसीपर उसका जोर है; फिर भी वह बीच-बीचमें प्रमाणलक्षणोंके अलावा कुछ अन्य प्रमेयोंका भी खण्डन करता है। इस तरह प्रमाणलक्षणोंके खण्डनका ध्येय रखनेवाले इस ग्रन्थमें थोड़ेसे अन्य प्रमेयोंका भी खण्डन मिलता है।

(२) **न्याय, मीमांसा, सांख्य, बौद्ध, वैयाकरण** और **पौराणिक** इन छह दर्शनोंके अभिमत लक्षणोंको, ग्रन्थकारने खण्डनीय रूपसे लिया है। इनमेंसे कुछ लक्षण ऐसे हैं जो प्रमाणसामान्यके हैं और कुछ ऐसे हैं जो विशेष-विशेष प्रमाणके हैं। प्रमाणसामान्यके लक्षण सिर्फ **मीमांसा** और **बौद्ध**—इन दो दर्शनोंके लिये गए हैं[1]। मीमांसासम्मत प्रमाणसामान्यलक्षण जो ग्रन्थकारने लिया है वह **कुमारिल**का माना जाता है, फिर भी इसमें संदेह नहीं कि वह लक्षण पूर्ववर्ती अन्य मीमांसकोंको भी मान्य रहा होगा। ग्रन्थकारने बौद्ध दर्शनके प्रमाणसामान्य संबंधी दो लक्षण चर्चाके लिये हैं[2] जो प्रगट रूपसे **धर्मकीर्ति**के माने जाते हैं, पर जिनका मूल **दिङ्नागके** विचारमें भी अवश्य है।

विशेष प्रमाणोंके लक्षण जो ग्रन्थमें आए हैं वे **न्याय, मीमांसा, सांख्य, बौद्ध, पौराणिक** और **वैयाकरणों**के हैं।

---

१ देखो पृ० २२ और २७।
२ देखो, पृ० २७ और २८।

न्याय दर्शनके प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम इन चारों प्रमाणोंके विशेष लक्षण ग्रन्थमें आए हैं[1] और वे **अक्षपाद**के **न्यायसूत्र**के हैं।

सांख्य दर्शनके विशेष प्रमाणोंमेंसे केवल प्रत्यक्षका ही लक्षण लिया गया है,[2] जो **ईश्वरकृष्ण**का न होकर **वार्षगण्य**का है।

बौद्ध दर्शन प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणोंको ही मानता है।[3] ग्रन्थकारने उसके दोनों प्रमाणोंके लक्षण चर्चाके वास्ते लिए हैं[4] जो—जैसा कि हमने ऊपर कहा है—धर्मकीर्तिके हैं, पर जिनका मूल दिङ्नागके ग्रन्थोंमें भी मिलता है।

मीमांसा दर्शनके प्रसिद्ध आचार्य दो हैं—**कुमारिल** और **प्रभाकर**। प्रभाकरको पाँच प्रमाण इष्ट हैं, पर कुमारिलको छह। प्रस्तुत ग्रन्थमें कुमारिलके छहों प्रमाणोंकी मीमांसाकी गई है, और इसमें प्रभाकर सम्मत पाँच प्रमाणोंकी मीमांसा भी समा जाती है।

पौराणिक विद्वान मीमांसा सम्मत छह प्रमाणोंके अलावा ऐतिह्य और सम्भव नामक दो[5] और प्रमाण मानते हैं—जिनका निर्देश **अक्षपाद**के सूत्रों तकमें[6] भी है—वे भी प्रस्तुत ग्रन्थमें लिये गए हैं।[7]

वैयाकरणोंके अभिमत 'वाचकपद'के लक्षण और 'साधुपद'की उनकी व्याख्याका भी इस ग्रन्थमें खण्डनीय रूपसे निर्देश मिलता है। यह सम्भवतः **भर्तृहरि**के **वाक्यपदीय**से लिया गया है।[8]

(३) यों तो ग्रन्थमें प्रसंगवश अनेक विचारोंकी चर्चा की गई है, जिनका यहाँपर सविस्तर वर्णन करना शक्य नहीं है, फिर भी उनमेंसे कुछ विचारों—वस्तुओंका निर्देश करना आवश्यक है, जिससे यह जानना सरल हो जाएगा, कि कौन-कौनसी वस्तुएँ, अमुक दर्शनको मान्य और अन्य दर्शनोंको अमान्य होनेके कारण, दार्शनिक-क्षेत्रमें खण्डन-मण्डनकी विषय बनी हुई हैं, और

---

१. देखो, पृ० २७, ५४, ११२, ११५।

२. पृ० ६१।

३. पृ० ३२, ८३।

४. ५८, ८२ १०६, ११२, ११६।

५. पृ० ११३।

६. न्यायसूत्र—२. २. १. ७. पृ० १११।

८. पृ० १२०।

ग्रन्थकारने दार्शनिकोंके उस पारस्परिक खण्डन-मण्डनकी चर्चासे किस तरह फायदा उठाया है। वे वस्तुएँ ये हैं—

जाति, समवाय, आलम्बन, अतथ्यता, तथ्यता, स्मृतिप्रमोष, सन्निकर्ष, विषयद्वैविध्य, कल्पना, अस्पष्टता, स्पष्टता, सन्तान, हेतु-फलभाव, आत्मा, कैवल्य, अनेकान्त, अवयवी, बाह्यार्थविलोप, क्षणभङ्ग, निर्हेतुकविनाश, वर्ण, पद, स्फोट और **अपौरुषेयत्व।**

इनमेंसे 'जाति', 'समवाय', 'सन्निकर्ष', 'अवयवी', आत्माके साथ सुख-दुःखादिका संबन्ध, शब्दका अनित्यत्व, कार्यकारणभाव—आदि ऐसे पदार्थ हैं जिनको **नैयायिक** और **वैशेषिक** मानते हैं, और जिनका समर्थन उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें बहुत बल तथा विस्तारपूर्वक करके विरोधी मतोंके मन्तव्यका खण्डन भी किया है। परन्तु वे ही पदार्थ **सांख्य, बौद्ध, जैन** आदि दर्शनोंको उस रूपमें बिलकुल मान्य नहीं। अतः उन-उन दर्शनोंमें इन पदार्थोंका, अति विस्तारके साथ खण्डन किया गया है।

'स्मृतिप्रमोष' मीमांसक **प्रभाकर**की अपनी निजकी मान्यता है, जिसका खण्डन नैयायिक, बौद्ध और जैन विद्वानोंके अतिरिक्त स्वयं महामीमांसक **कुमारिल**के अनुगामियों तकने, खूब विस्तारके साथ किया है।

'अपौरुषेयत्व' यह **मीमांसक** मान्यताकी स्वीय वस्तु होनेसे उस दर्शनमें इसका अति विस्तृत समर्थन किया गया है; पर नैयायिक, बौद्ध, जैन आदि दर्शनोंमें इसका उतने ही विस्तारसे खण्डन पाया जाता है।

'अनेकान्त' **जैन** दर्शनका मुख्य मन्तव्य है जिसका समर्थन सभी जैन तार्किकोंने बड़े उत्साहसे किया है; परंतु बौद्ध, नैयायिक, वेदान्त आदि दर्शनोंमें उसका वैसा ही प्रबल खण्डन किया गया है।

'आत्मकैवल्य' जिसका समर्थन **सांख्य** और **वेदान्त** दोनों अपने ढंगसे करते हैं; लेकिन बौद्ध, नैयायिक आदि अन्य सभी दार्शनिक उसका खण्डन करते हैं।

'वर्ण', 'पद' 'स्फोट' आदि शब्दशास्त्र विषयक वस्तुओंका समर्थन जिस ढंगसे वैयाकरणोंने किया है उस ढंगका, तथा कभी-कभी उन वस्तुओंका ही, बौद्ध, नैयायिक आदि अन्य तार्किकोंने बलपूर्वक खण्डन किया है।

'क्षणिकत्व', 'संतान', 'विषयद्वित्व', 'स्पष्टता—अस्पष्टता', 'निर्हेतुकविनाश', 'बाह्यार्थविलोप', 'आलम्बन', 'हेतुफलसंबंध', 'कल्पना', 'तथ्यता—अतथ्यता' आदि पदार्थ ऐसे हैं जिनमेंसे कुछ तो सभी बौद्ध परंपराओंमें, और कुछ किसी-किसी परम्परामें, मान्य होकर जिनका समर्थन बौद्ध विद्वानोंने बड़े

प्रयाससे किया है; पर नैयायिक, मीमांसक, जैन आदि अन्य दार्शनिकोंने उन्हीं-का खण्डन करनेमें अपना बड़ा बौद्धिक पराक्रम दिखलाया है।

(४) यह खण्डन सामग्री, निम्नलिखित दार्शनिक साहित्य परसे ली गई जान पड़ती है—

न्याय-वैशेषिक दर्शनके साहित्यमेंसे अक्षपादका न्यायसूत्र, वात्स्यायन भाष्य, न्यायवर्तिक, व्योमवती और न्यायमंजरी।

मीमांसक साहित्यके श्लोकवार्तिक और बृहती नामक ग्रंथोंका आश्रय लिया जान पड़ता है।

बौद्ध साहित्यमेंसे प्रमाणवार्तिक, संबंधपरीक्षा, सामान्यपरीक्षा आदि धर्म-कीर्तिके ग्रन्थोंका; तथा प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर आदि धर्मकीर्तिके शिष्योंकी की हुई उन ग्रन्थोंकी व्याख्याओंका आश्रय लिया जान पड़ता है।

व्याकरण शास्त्रीय साहित्यमेंसे वाक्यपदीयका उपयोग किया हुआ जान पड़ता है।

जैन साहित्यमेंसे पात्रस्वामि या अकलंककी कृतियोंका उपयोग किये जानेका संभव है।

(५) जयराशिने अपने अध्ययन और मननसे, भिन्न-भिन्न दार्शनिक-प्रमाणके स्वरूपके विषयमें तथा दूसरे पदार्थोंके विषयमें, क्या-क्या मतभेद रखत हैं और वे किन-किन मुद्दोंके ऊपर एक दूसरेका किस-किस तरह खण्डन करते हैं, यह सब जानकर, उसने उन विरोधी दार्शनिकोंके ग्रन्थोंमेंसे बहुत कुछ खण्डन सामग्री संग्रहीत की और फिर उसके आधारपर किसी एक दर्शनके मन्तव्यका खण्डन, दूसरे विरोधी दर्शनोंकी की हुई युक्तियोंके आधारपर किया; और उसी तरह, फिर अन्तमें दूसरे विरोधी दर्शनोंके मन्तव्योंका खण्डन, पहले विरोधी दर्शनकी दी हुई युक्तियोंसे किया। उदाहरणार्थ— जब नैयायिकोंका खण्डन करना हुआ, तब बहुत करके बौद्ध और मीमांसकके ग्रन्थोंका आश्रय लिया गया, और फिर बौद्ध, और मीमांसक आदिके सामने नैयायिक और जैन आदिको भिड़ा दिया गया। पुराणोंमें यदुवंशके नाशके बारेमें कथा है कि मद्यपानके नशेमें उन्मत्त होकर सभी यादव आपसमें एक दूसरेसे लड़े और मर मिटे। जयराशिने दार्शनिकोंके मन्तव्योंका यही हाल देखा। वे सभी मन्तव्य दूसरेको पराजित करने और अपनेको विजयी सिद्ध करनेके लिए जल्पकथाके अखाड़ेपर लड़नेको उतरे हुए थे। जयराशिने दार्शनिकोंके उस जल्पवादमेंसे अपने वितण्डावादका मार्ग बड़ी सरलतासे निकाल लिया और दार्शनिकोंकी खण्डनसामग्रीसे उन्हींके तत्वोंका उपप्लव सिद्ध कर दिया।

यद्यपि जयराशिकी यह पद्धति कोई नई वस्तु नहीं है—अंशरूपमें तो वह सभी मध्यकालीन और अर्वाचीन दर्शन ग्रन्थोंमें विद्यमान है, पर इसमें विशेषत्व यह है कि भट्ट जयराशिकी खण्डनपद्धति सर्वतोमुखी और सर्वव्यापक होकर निरपेक्ष है।

उपसंहार

यद्यपि यह तत्त्वोपप्लव एक मात्र खण्डनप्रधान ग्रन्थ है, फिर भी इसका और तरहसे भी उपयोग आधुनिक विद्वानोंके लिए कर्तव्य है। उदाहरणार्थ—जो लोग दार्शनिक शब्दोंका कोश या संग्रह करना चाहें और ऐसे प्रत्येक शब्दके संभवित अनेकानेक अर्थ भी खोजना चाहें, उनके लिए यह ग्रन्थ एक बनी बनाई सामग्री है। क्योंकि जयराशिने अपने समय तकके दार्शनिक ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध ऐसे सभी पारिभाषिक दार्शनिक शब्दोंका विशिष्ट ढंगसे प्रयोग किया है और साथ ही साथ 'कल्पना', 'स्मृति' आदि जैसे प्रत्येक शब्दोंके सभी प्रचलित अर्थोंका निदर्शन भी किया है। अतएव यह तत्त्वोपप्लव ग्रन्थ आधुनिक विद्वानोंके वास्ते एक विशिष्ट अध्ययनकी वस्तु है। इस परसे दार्शनिक विचारोंकी तुलना करने तथा उनके ऐतिहासिक क्रमविकासको जाननेके लिए अनेक प्रकारकी बहुत कुछ सामग्री मिल सकती है।

[भारतीय विद्या ई० १९४१]

INTRODUCTION

Importance of the TPS.

As far as our knowledge goes the Tattvopaplavasimha is a unique work of its kind. The school of Chārvāka otherwise known as the Lokāyata Darśana was long known to the students of Indian Philosophy as a Pūrvapakṣa in almost all the systems, and also from such works as the Ṣaḍdarśanasamuccaya of Haribhadra Sūri (about 700–770 A. D.) and the Sarvadarśana Saṅgraha of Mādhavāchārya (about 14th century A. D.) No work, however, belonging to the Lokāyata school itself was known. The TPS fills at least partially that gap in our knowledge [1]. As we shall see later on, the TPS goes a step further and carries to its logical end the sceptical tendency of the Chārvāka school as it is known to us from this work itself and other sources and ends in 'tattvopaplava' or 'upsetting of all principles.'

Description of the Ms.

This palm-leaf ms, which as noted in the Preface, belongs to the Sanghavinā pādāno Bhanḍār, is noticed in A Descriptive Catalogue of MSS in the Jaina Bhandārs at Pattan Vol. I. p. 165, G. O. S. No. LXXVI, published in 1937. It consists of 176 leaves. Its length is 14″ and breadth 1½″. A few lines in the beginning and a few in the body of the work are illegible.

It becomes clear from the colophon that the ms was copied in Samvat 1349 Marg. Vadi 11 Sanau (6th December 1292 A.D.) at Dholkā by Maham Narapāla. At the time Sāraṅgadeva (A. D. 1274–95) of the House of the Vāghelās was reigning. Dholkā had been a second capital of Gujarat for more than half a century from the time of Viradhavala (A. D. 1233–38) and it appears from the colophons of a great number of mss that it had developed into a centre of learning also.

The ms begins— ....तां यात मुन................स्वोपप्लवसिंह एष विषमो नूनं मया.........नास्ति तत्फलं वा स्वर्गादि। सत्यं तावदा(दे)तस्य कर्मणः स भा................उक्तं च परमार्थविद्भिरपि etc.

---

1 See further pp. xi–xii.

It ends— पाखण्डखण्डनाभिज्ञा ज्ञानोदधिविवर्द्धिताः । जयराशेर्जयन्तीह विकल्पा वादिजिष्णवः ॥ छ ॥ संवत् १३४९ मार्ग० वदि ११ शनौ धवलक्के महं० नरपालेन तत्त्वोपप्लवग्रन्थपुस्तिका लेखीति । भद्रं ॥

The Present Edition

The single palm-leaf ms on which the present text is based presents on the whole an accurate version of the work. At some places, however, the writing is blurred and those places are indicated in the footnotes as घृष्टम् or घृ०; at other places the trend of the meaning required emendations in readings, these have been indicated in the footnotes as परिमार्जितम् or परि०. When in the body of the text we have supplied some readings we have put the same in rectangular brackets, e. g. on the first page [त]त्त्वो etc. मया [सूज्यते].

The paragraphs in the text are, of course, made by us. We have also supplied the headings of different sections in rectangular brackets, e. g. p. 2 [१ न्यायसंमतस्य प्रत्यक्षलक्षणस्य परीक्षा].

This, we hope, will greatly facilitate the study of the work. The passages that seemed to be quotations have been indicated by " " and wherever possible we have given the names of original works in [ ], e. g. page 3. [शाबरभा० १. १. ५]. The proper names have been underlined.

At the end of the text we have provided three परिशिष्ट्स or appendices. The first gives the index of important philosophical terms; the second that of the proper names and the third that of quotations.

All this, it is hoped, will enable the scholars to utilize this important work for further researches in the subject.

Comparative unfamiliarity of the TPS.

Before we attempt to discover the date of the TPS we propose to consider its comparative unfamiliarity and the type of thought it represents. Verses attributed to Chārvāka and the name of Bṛhaspati as the founder of the Lokāyata school more familiarly known as the Chārvāka Darśana are known to us from such works as the Śāstravārtā Samuchchaya and the Ṣaḍdarśana Samuchchaya of Haribhadra Sūri (700–70 A. D.), the Sarvadarśana Saṅgraha of Mādhavāchārya (14 cen. A. D.) and such other works as the Sarvamata Saṅgraha. As every student of Saṁskṛta systems of philosophy knows Chārvāka or Lokāyata is referred to in many of the major works on the subject.[2] This school of thought

2. See: Lokāyata by Mahāmahopadhyāya H. P. S'āstrī, Dacca University Bulletins, No. 1.

supposed to be founded by Bṛhaspati who is also supposed to be the founder of the Science of Polity[3] (अर्थशास्त्र) seems to have developed at least in two branches, as becomes clear from the reference to नव्य नास्तिकs in the Syādvādalatikā of Yaśovijaya[4] (1608–84 A. D.)[5] a commentary on the SVS of Haribhadra and the commentary of Śaṅkara on Khaṇḍanakhaṇḍakhādya (about 1450 A. D.)[6]. We are here concerned only with the reference of Śaṅkara.

Śrī Harṣa in the KKK refers to Chārvākas, Mādhyamikas and Śaṅkarāchārya as those who do not accept any Pramāṇas. He says:–

तदनभ्युपगच्छतोऽपि चार्वाकमाध्यमिकादेर्वाग्विस्तराणां प्रतीयमानत्वात्। सोऽयमपूर्वः प्रमाणादिसत्तानभ्युपगमात्मा वाक्स्तम्भमन्त्रो भवताभ्युहितो नूनं यस्य प्रभावाद भगवता सुरगुरुणा लोकायतकानि सूत्राणि न प्रणीतानि, तथागतेन वा मध्यमागमा नोपदिष्टाः, भगवत्पादेन वा बादरायणीयेषु सूत्रेषु भाष्यं नाभाषि। pp. 25–27 CSS No. 445.

Now all the different commentators who seem to be familiar only with that branch of Chārvākas which recognizes the validity of Pratyakṣa and the existence of four elements are at great pains to explain this passage by saying that because Chārvākas do not recognize the validity of Anumāna and as Prāmāṇya can only be proved through Anumāna only they are said to recognize no Pramāṇa. But surely this explanation is far-fetched. Only Śaṇkara after giving the above explanation gives the other explanation चार्वाकैकदेशी वा चार्वाकः।[7] According to him this particular division of Chārvākas do not recognize any Pramāṇas. This, as far as we know, can apply either only to TPS or a similar work, which does away with each and every Pramāṇa known to Indian Schools of Philosophy.

It is also very likely that Śrī Harṣa has also TP or a similar work in mind when he refers to Chārvāka as not recognizing any Pramāṇa; for it is not possible that such an accurate and learned Pandit as Śrī Harṣa would not distinguish between Chārvākas who recognized Pratyakṣa and others who did not. If this assumption is correct, as there is reason to believe, we may say that tattvopaplava vāda was familiar to

3. See: Scherbatsky: Buddhist Logic, p. 15 fn. 5-
4. अत्र नव्यनास्तिकाः etc. p. 30. Seth Devachand Lalbhai Series,
5. H. I. L. p. 217
6. H. I. L. p. 458
7. See: खण्डनखण्डखाद्यम् p. 26, CSS. No. 445.

Śrī Harṣa; and looking to the similarity of the argument of both the works may we suggest that Jayarāśi (or some one else of his school of thought) might have inspired that grand dialectical work, viz. Khaṇḍana-khaṇḍa-khādya, though recognizing at the same time that their aims are altogether different? Śrī Harṣa tries to show the अनिर्वचनीयता of Brahma while Jayarāśi shows invalidity of Pramāṇas and the consequent invalidity of everything. The difference may be explained by the fact that Jayarāśi does not go beyond the plane of प्रमाणs–Reason–while Sri Harṣa – the Advaita Vedāntin that he is, accepts the possibility of knowing Brahma – the ultimate reality – through means other than Tarka. However that may be, we can safely say that the type of thought represented by the TPS was not so unfamiliar to the old savants as it at first sight may appear; and as will be seen from what follows, Jain dialecticians both Digambara and Śvetāmbara were quite familiar with the TPS.

The Age of the work and its Author

Coming to the question of the age of the work we take the date of the palm–leaf ms as our starting point. That date is संवत् १३४९ मार्ग. वदि ११ शनौ, 6th December 1292 A.D. Now let us make an attempt to find how far we can go into times earlier than this.

Malliṣeṇa Sūri in his commentary on Anyayogavyavachchheda Dvātriṃśikā of Hemachandra Sūri (1089–1173 A.D.) named Syādvādamañjarī while commenting on verse 17 after putting forth the view of Śūnyavādins says "विस्तरतस्तु प्रमाणखण्डनं तत्त्वोपप्लवसिंहाद् अवलोकनीयम्। "For a detailed refutation of Pramāṇas Tattvopaplavasiṃha should be consulted" [8]. In this reference we are to note that the work is mentioned with its full title and for the purpose of प्रमाणखण्डन. The title agrees completely with the one of the work under consideration and प्रमाणखण्डन which starts on page one of our text forms its main theme. This leaves no doubt that Malliṣeṇa Sūri has our work in mind and no other. SM was finished in the Śaka year 1214[9] – 11th October 1292. A.D.–less than two months before the date of our palm–leaf ms. This also suggests that M. had a copy of this work other than the one available to us.

Chandraprabhasūri, in his Prabhāvaka–charita, chapter 16, mentions that the poet Dharma of the Kaula sect and a native of Broach had a dialectical duel with the great Jain dialectician Śānti Sūri of Aṇahillapura Pattan and that he used the

8. P. 118, Syādvādamañjarī ed. by Dr. A. B. Dhruva, BSS.

9. श्रीमल्लिषेणसूरिभिरकारि तत्पदगगनदिनमणिभिः।
वृत्तिरियं मनुरविमितशाकाब्दे दीपमहसि शनौ ॥ p. 179, BSS.

arguments taken from the TP for this purpose.[10] Ch. finished his Pra. in V. S. 1334–A.D. 1277 March 12.[11] So the TP was known fifteen years before our ms was copied. We may, however, go further. As there is nothing which goes against the historicity of the incident mentioned by Chandraprabha Sūri we may say that the TP was a well known work even in the 11th cent. A. D. and that it was used as a powerful dialectical weapon.[12]

Abhayadevasūri – the teacher of Śānti Sūri in Pramāṇaśāstra–in his commentary on Sanmatitarka called Tattvabodhavidhāyinī popularly known as Vādamahārṇava has passages which seem to be adapted from the TPS as shown by Pandit Sukhlalji and Pt. Bechardas in their excellent edition of Sanmatitarka, Vol. IV pp. 547–51 footnotes. Now Abhayadeva-Sūri being a teacher of Śānti Sūri who died in V. S. 1096 –A. D. 1040 falls in the first half of the 11th century A. D.[13]

Thus the evidence considered above enables us to say that the TP was well known in Gujarat during the period of 11th to 13th centuries of the Christian Era. The Digambara Jain works of the Southern India lead us still further.

Students of South Indian Jainism know very well that the great Digambara Pontiff Akalaṅkadeva (A. D. 620–80) wrote a number of authentic philosophical works and gave great impetus to the development of Jain Nyāya.[14] In that tradition Vidyānandin who wrote such works as Tattvārthaślokavārtika and Aṣṭasahasrī is a great name. Anantavīrya is another important name. He wrote a commentary on the Siddhiviniśchaya of Akalaṅkadeva. This commentary, not yet published in a printed form, exists in the MS. library of Kodāi

---

10. संवीक्ष्य कुञ्चिकाछिद्राद् ज्ञापितं यतिभिर्गुरुम् ।
पृच्छयैव विजेष्येऽमुं धर्मों ध्यात्वेति तं जगौ ॥ ९७ ॥

स तत्त्वोपप्लवग्रन्थाभ्यासोपन्यासमातनोत् ॥ १०१ ॥
वितण्डाविरते चात्र श्रीशान्त्याचार्य उज्जगौ ॥ १०२ ॥
pp. 221–22 N. S. P.

11. वेदानलशिखिशशिधरवर्षे चैत्रस्य धवलसप्तम्याम् ।
शुक्रे पुनर्वसुदिने संपूर्णं पूर्वर्षिचरितम् ॥ २२ ॥
p. 349 ibid.

12. See: Intro. to KS pp. cxliv–cxlviii. pub. by M. J. V.

13. Preface to the Gujarati translation of SM, pp. 83–84

14. See: NKC p. 110.

in Cutch. We possess a copy made of it. These two authors viz. Anantavirya and Vidyānandin refer to TP in their works.[15]

Anantavirya in his Siddhiviniśchayavṛtti on folio 228 a says: अत्र तत्त्वोपप्लवकृदाह etc. and further on on the same folio तत्त्वोपप्लवकरणाद् जयराशिः सौगतमतमवलम्ब्य ब्रूयात्, etc. These two passages leave no doubt that Jayarāśi wrote the TP and that he and his work TP are referred to by Anantavirya.[16]

Similarly Vidyānandin in his work named Aṣṭasahasrī which has been published by the N. S. P. says on p. 37 एके हि तत्त्वोपप्लववादिनः etc. and after devoting about five pages to the refutation of तत्त्वोपप्लववाद says: तत्त्वोपप्लववादिनः स्वयमेकेन प्रमाणेन स्वप्रसिद्धेन परप्रसिद्धेन वा विचारोत्तरकालमपि प्रमाणतत्त्वं प्रमेयतत्त्वं चोपप्लुतं संविदन्त एवात्मानं निरस्यन्तीति व्याहतिः (p. 42). The passage विचारोत्तरकाल etc. may be compared with the last few lines of our text wherein Jayarāśi says: तदेवमुपप्लुतेष्वेव तत्त्वेषु अविचारितरमणीयाः सर्वे व्यवहारा घटन्ते ।

---

15. Compare the following from Prameyakamalamārtaṇḍa:—
संशयज्ञाने हि धर्मी धर्मो वा प्रतिभाति । धर्मी चेत् स तात्त्विकोऽतात्त्विको वा । तात्त्विकश्चेत् कथं तद्बुद्धेः संशयरूपता, etc. (p. 13 a N. S. P. 1912) with the following from TPS p. 19: संशयज्ञाने जाते किंचित् प्रतिभाति आहो न प्रतिभाति । तद्यदि प्रतिभाति स किं धर्मी धर्मो वा । तद्यदि धर्मी प्रतिभाति स तात्त्विकः अतात्त्विको वा । यदि तात्त्विकः नापनेयता तद्विषयज्ञानस्य to कथं तद्बुद्धेः संदेहरूपता ॥ Compare also the following from the PKM p.184b: यदि संबन्धबुद्धौ कोऽयं संबन्धो नाम । किं संबन्धत्वजातियुक्तः संबन्धो अनेकोपादानजनितो वानेकाश्रितो वा, etc. with तद्यदि संबन्धबुद्धया कोऽयं संबन्धः । किं संबन्धजातियुक्तः संबन्धः आहोस्विद् अनेकोपादानजनितो अनेकाश्रितो वा । etc. TPS p. 7.

This comparison inclines us to believe that the PKM might have taken these passages with a few verbal changes and in a slightly compressed form from TPS. Prabhāchandra, the author of the work, is placed between 950-1020 A. D. by Pandit Mahendrakumāra, p. 123. Preface to NKC. Dr. Satischandra, however, puts him about 825 A. D. pp. 193-194, H.I.L.

16. As these passages are decisive as evidence they are quoted at length below :-

२२८a. अत्र तत्त्वोपप्लवकृदाह—चार्वाकैः चारुचर्चितं स्वयमेव लक्षणमन्तः [?] तदनुपपत्तिस्तेषां न दोषाय प्रत्यक्षोपगमस्तु व्यवहारेणेति । तत्राह—किं केनेत्यादि । तदनुपपत्तेः कारणात् किं प्रत्यक्षादिलक्षणस्य परकीयस्यातिव्याप्त्यादिकं केन न चिद् ?] विदध्यात—कुर्यात् चार्वाको । नहि प्रमाणमन्तरेण तदपि कर्तुं शक्यं यतः परपर्यनुयोगपराणि बृहस्पतेः सूत्राणीति सूक्तं स्यात् । किं तदनतिव्याप्त्यादिकं[?], केन प्रतिषेधयेत् वा यतो—यस्मात कस्यचिद् विधानात् प्रतिषेधाच्च.....जगत् स्यात । किंभूतमित्याह—चातुर्भौतिकमेव चतुर्भिः पृथिव्यादिभि[ः] स्तुतत्वात्

Vidyānandin refers to tattvopaplava vāda in his other work viz. Tattvārthślokavārtika also. He says (p. 80, G. N. J. G.): तत्त्वोपप्लववादिनः परपर्यनुयोगमात्रपरत्वादिति कश्चित्। and devotes about a page to the discussion of तत्त्वोपप्लववाद. Again on page 195 of the same work he mentions Tattvopaplavavādins with Sūnyavādins and Brahmavādins as follows :–सर्वथा शून्यवादिनस्तत्त्वोपप्लववादिनो ब्रह्मवादिनो वा जाग्रदुपलब्धार्थक्रियायां किं न बाधकप्रत्ययः ॥[17]

These passages confirm us in our view that Vidyānandin also refers to our TP and no other work. In addition to this we may point out that Vidyānandin first refutes the views of the other section of Chārvākas (pp. 35–37 AS.) and then grapples with tattvopaplava vāda, which means that in V's view these two are different sections requiring separate treatment.

Thus we find that Anantavīrya mentions Jayarāśi by name and Vidyānandin devotes considerable space to refute tattvopaplava vāda separately and in addition to the refutation of other Chārvākas who accept one Pramāṇa and the existence of four elements.

Now we find that Anantavīrya is referred to by Mādhavāchārya (14 Cen. A. D.) in his Sarvadarśanasaṅgraha.

भूतैरिवे गृहातेद्वत इति[?] यदि वा किं पृथिव्यादिकं जीवादिकं च केन विदध्यात् प्रतिषेधयेद् वा प्रमाणाभावे उभयोरभ्युपगमः प्रतिषेधो वा स्यादिति मन्यते। एतदेवाह–यतो–यस्मात् विधानात् प्रतिषेधाच्चा[?]चातुर्भौतिकमेव जगत् स्यात्। चतुर्भूतनिर्मितमेव स्यात्। एतदुक्तं भवति। प्रमाणाभावेनात्मादिवद् भूतपरित्यागे सकलशून्यतापत्तेर्भूतवद् वात्मादिपरिग्रहे व्यवहारविशेषात् कुतश्चातुर्भौतिकमेव विपर्ययभावात्। तन्नायं सौगतमतिशेत इति। तदयमित्यादिमा(ना) दर्शयति। तत्र हि प्रत्यक्षमन्यद् वा प्रमाणं प्रतिषिध्यते तदुपलम्भादेर्बाधकाभावस्यान्यस्य वा तल्लक्षणस्य स्वप्नेऽपि [?] भावाददुष्टकारणारब्धत्वस्य ज्ञातुमशक्तेरतीन्द्रियस्येन्द्रियस्य दुष्टत्वस्येतरस्य वा प्रत्यक्षतो ज्ञानानेपि [?] पूर्वचोद्यानिवृत्तिः पुनस्तत्राप्यदुष्टकारणारब्धत्वकल्पने तदेव चोद्यं तदेवोत्तरम् इत्यनवस्था। ज्ञानप्रामाण्यात् तदवगमेऽन्योन्यसंश्रयस्तथा हि– सिद्धेस्तत्प्रामाण्ये न ततोऽदुष्टकारणारब्धत्वसिद्धिः तस्यास्तत्प्रामाण्यसिद्धिरिति। तन्न बहिः किंचित् प्रमाणं कस्यचिद्विधानम्। प्रतिषेधनं तु स्वसंवेदनप्रत्यक्षबलात् इति कस्यचित्। भेतो[?]पि तत्त्वोपप्लवकरणाद् जयराशिः सौगतमतमवलम्ब्य ब्रूयात्। तत्राह स्वसंवेदनेत्यादि–स्वेन स्वस्य वा वेदनं ग्रहणं तस्योपेक्षयाभ्युपगमेन। 'यदि नाम' इत्यस्चौ। तथा सति बहिरुपप्लुतमन्तश्च। अन्यथा सौगतमतमेव निरघंस्त [?] प्रसरन्तचार्वाकमिति प्रत्यक्षं प्रमाणमित्येवमुक्तम्। 'यदिनामे'ति संबन्धः। तत्सोपहासपरं वचनमाह सूक्तमेरवे (वै) तत् [?]। असूक्तेऽपि सूक्तमित्यभिधानात्। निराकृतपरदर्शनगमनात्। स कस्तत्स्वदर्शनत्यागात् [?] सूक्तलेशोऽपि नास्ति इति एवकारेण दर्शयति। कस्मादसूक्तं यस्मादुपहास्यमेतदिति। कदाचित् सौगतस्तत्पक्षपातमुद्वहन् ब्रूयात् इत्याह–स्वसंवेदनेत्यादि etc.

सिद्धिविनिश्चयवृत्तिः लिखितप्रतेः ॥ २८८ a.

17. This may be compared with a similar bracketing of these three by S'ri Harṣa referred to above.

He is also mentioned by the great Digambarāchārya Prabhāchandra in his Nyāyakumudachandra a commentary on the Laghīyastraya of Akalaṅkadeva. Pandit Mahendrakumār the learned editor of the NKC. puts Prabhāchandra between 950–1020 A. D. and Anantavīrya in the ninth century A.D.[18].

As to Vidyānandin we find that he mentions Dharmottara, Prajñākara and Maṇḍanamiśra and quotes Karikās from the Vārtika on Bṛhadāraṇyaka of Sureśvara. The first two are put in the eighth century of the Christian Era; Maṇḍanamiśra is later than Kumārila, and Sureśvara being a desciple of Saṅkarāchārya later than Ś. Mr. P. V. Kane puts Sureśvara in between 800-840. Pandit Mahendrakumār following this order puts Vidyānandin also in the ninth century. Dr. Satishchandra puts him about 800 A. D. [19] Pandit Vaṁṣidhara the editor of Aṣṭashasri puts Vidyānandin in the middle of the ninth century of the Vikrama Era–that is to say about 796 A. D.

From the consideration of the dates of Anantavirya and Vidyānandin we are inclined to believe that TPS and its author Jayarāśi are earlier than the ninth century of the Christian Era.

In order to find out the earlier limit of the age of TPS we have to rely upon the references to other works and their authors as well as to other Darśanas in it. The main theme of TPS is the examination of the Instruments of Valid Knowledge and so with that aim it surveys the entire field of the then known schools of Indian Philosophy. It mentions Sāṅkhyas (P. 79), Mimāṁsakas (23, 58, 82), Kāṇādas, i. e. Vaiśeṣikas (P. 117), Naiyāyikas (pp. 6, 12, 14, etc.), Bauddhas under various names (pp. 27, 35, 41, 42, 45, 56, 79, 81, 83 etc.) and the Digambaras of the Jain Sect. It also refers to the आनन्दरूपमात्मनः कैवल्यम् (P. 81) which seems to be a Vedānta view older than that of Śaṅkarāchārya and refers also to the Sambhava and Aitihya Pramāṇas, subsuming the former under Anumāna and the latter under Agama (p. 113). The last section of the work is devoted to साधुपदाद् अर्थप्रतिपत्ति doctrine of the Vaiyākaraṇas especially that of Bhartṛhari.

Thus it becomes clear that TPS is familiar with the philosophical views of almost all important schools—Vedic,

---

18. Dr. Satishchandra Vidyābhūshana in his His. of Indian Logic puts Prabhāchandra about 825 A. D. (p. 193) while curiously enough puts Anantavīrya about 1039 A. D. (p. 198).

19. H. I. L. pp. 186–87

Jain and Buddhist—as we find them developed in their respective works by the ninth century of the Christian Era. We also find that the Māyāvāda and the Kevala Advaitavāda as developed by Sankarāchārya are conspicuous by their absence. All this, in itself, however carries us nowhere and it is curious to note that the individual references to authors and works in the TPS are only two. One is to Bṛhaspati the founder of the Lokāyata school and the other to Lakṣaṇasāra probably a work of Jayarāśi himself or some one belonging to his school. The other references, as said above, are general. So the only course left open to us is to make an attempt to identify the quotations given in the TPS with the original passages and to try with the help of these identifications to settle the earlier limit of the age of the work.

Of the numerous quotations we have been able to trace only a few. These come from the Mīmāmsāsūtras of Jaimini, the Vaiśeṣika Sūtras of Kaṇāda, the Nyāyasūtras of Gautama, the Bhaṣya of Sabara, the Slokavārtika of Kumārila, and the Pramāṇavārtika and the Nyāyabindu of Dharmakirti. Of the two verses noted in the foot-note[20] we are able to trace the latter to SV 2 v. 184 and the context requires that the former also must be either from the SV or a similar work of Pūrvamīmāmsā; but it is not found in the published editions of the SV and strangely enough is found in the Tattvasaṅgraha of Śāntarakṣita (kārikā 2895, G. O. S.). The context in the TS however shows that it must belong to some Pūrvamīmāmsā work-presumably the SV of Kumārila-as the Pañjikā on the verse in question gives in support a quotation from Sābarabhaṣya.

Now if the quotations we have identified cannot be traced to some earlier works, we may, from what we have discussed above, come to the conclusion that the TPS and its author Jayarāśi cannot be placed before Kumārilabhaṭṭa and Dharmakirti. Now Kumārila is assigned by different scholars to somewhere between 600 A. D. to 700 A. D. He is according to Keith earlier than 838 and 'wrote perhaps

---

२०. दोषाः सन्ति न सन्तीति पौरुषेयेषु युज्यते ।
वेदे कर्तुरभावात्तु दोषाशङ्कैव नास्ति नः ॥
चोदनाजनिता बुद्धिः प्रमाणं दोषवर्जितैः ।
कारणैर्जन्यमानत्वात् लिङ्गाप्तोक्ताक्षबुद्धिवत् ॥ TPS. p. 160

about 700'[21]. Similarly Dharmakīrti is also placed between 600 and 700 A. D. According to Keith he falls in the seventh century A. D., while Satishchandra would place him about 635–50 A. D. So also Scherbatsky. Rāhula Sāṁkṛtyāyana is of the opinion that '625 A. C. should be the latest date for DK.' and Mahendrakumār would assign him the period 600-660–90 A. D. [22]

These considerations drive us to the conclusion that the TPS and Jayarāśi cannot be earlier than the seventh century of the Christian Era and as we saw above they cannot be assigned to an age later than that of Vidyānandin and Anantavīrya: that is later than about 800 A. D. So we are inclined to put TPS and its author Jayarāśi in the eighth century A. D.

The absence of a reference by itself may prove nothing but in a particular context where a certain reference would reasonably be expected its absence may be regarded as significant. TPS while refuting the theory of Pramāṇas and incidentally some Prameyas takes cognizance, as we saw, of all the principal schools viz. Mīmāṁsā, Nyāya, Vaiśeṣika, Sāṅkhya, Buddhist, Jain, etc., but there is no reference to the Māyāvāda of Śaṅkarāchārya as there is reference to the Saṁvṛti of Mādhyamakas (pp. 98–100). The only reference to the Vedānta doctrine that one finds, as we also saw, is to the आनन्दरूपं कैवल्यम् which comes after the refutation of Sāṅkhya Kaivalya (p. 81). This conspicuous absence of reference inclines us to the view that Śaṅkarāchārya was not known to Jayarāśi probably because he was either prior to him or was his contemporary; because considering the influential character of Śaṅkarāchārya's works, if it existed in J's time, his not taking cognizance of it in such a polemical work as TPS would be a puzzle. Now Ś. who according to Keith 'may have been born in 788, and may have died or become a Sanyāsin in 820, at any rate worked c. A. D. 800.'[23] If both J. and Ś. were contemporaries or J. prior to ŚL it would agree with the conclusion that we have arrived at about the age of J. and may lead us to assign Jayarāśi the first half of the seventh century A. D.

---

21. His. of S.L. p. 474. See also Karmamīmāṁsā p.11.Satishchandra would put him about 630 A. D. H, I. L. p. 351, and p. 138 f. n. 12, Pt. Mahendrakumār 600–660, Introduction to NKC p. 109, and Akalaṅkagranthatraya p. 32.

22. B. P. p, 308; H. I. L. p. 303; B. L. pp. 31–32; Intro. to Vādanyāya p. vii; Introductions to NKC. p 109 and Intro. to A T. p 32.

23. H. S. L. p. 476

Similarly, Haribhadrasūri who is placed by Jinavijayaji in the period 700–770 A. D.–a view accepted by Keith[24]–does not mention the TPS or tattvopaplava vāda either in his षड्दर्शनसमुच्चय or शास्त्रवार्तासमुच्चय though he describes the Lokāyata darśana in the SDS and discusses it in the SVS. This also agrees well with the age which we assign to Jayarāśi.

Native place of Jayarāśi

We have no means of ascertaining the birth place of Jayarāśi. But from the fact that the earliest references to the TPS and Jayarāśi are in the works of Vidyānandin and Anantavīrya both of them Digambara Jain Acharyas of Southern India and from the fact that the TPS refers only to the Digambara Jain sect (P. 79) we are inclined to guess that probably J. also came from the land which produced Bhaṭṭa Kumārila, Dharmakīrti, Akalaṅka, Vidyānandin, Anantavīrya and Śaṅkarāchārya.

As to the caste of Bhaṭṭa Jayarāśi as he calls himself there cannot be much doubt. He must have been a Brahmin like Bhaṭṭa Kumārila though the title Bhaṭṭa is sometimes found with the names of some Digambara Jain pontiffs, e. g. Bhaṭṭa Akalaṅkadeva. But Jayarāśi could not have been a Jain or a Buddhist as he mercilessly attacks their views; while his being a Brahmin would not prevent him from attacking other Brahminical systems with which he could not agree. In our view the Lokāyata Darśana is one of the Brahminical Darśanas though not one of the Astika Darśanas because Bṛhaspati is not outside the Brahminical fold. S'rī Harṣa, as we saw above, refers to him as 'भगवता सुरगुरुणा.'

Works of Jayarāśi

Whether J. wrote any other work besides TPS we do not definitely know, but it is likely, as the following reference shows that he may have written another work named Lakṣaṇasāra: अव्यपदेश्यपदं च यथा न साधीयः तथा लक्षणसारे द्रष्टव्यम्। But as we have said above the possibility of लक्षणसार being the work of some other author of the same school is not altogether excluded.

TPS a work of the Lokāyata School

We have said in the beginning that the TPS is a work of the Lokāyata or Chārvāka school or to be more precise – of a particular division of that school. Our reason for this statement is that J. in support of his opinion quotes Bṛhaspati

24. J. S. S. Vol. I p. 53, A His. of S. L. preface p. XXI

only and that with great regard e. g. इदमेव चेतसि समारोप्याह भगवान् बृहस्पतिः "परलोकिनोऽभावात् परलोकाभावः" (p. 45); and also on p.88: इदमेव चेतसि समारोप्य उक्तं शरीरादेव इति बृहस्पतिः । He also refers to him as Sūtrakāra and quotes a verse of his to abuse the Digambara Jainas (p. 79). The very first quotation पृथिव्यापः to संज्ञा (p. 1) in our text is given in the commentary on the SDS of Haribhadra called Tarkarahasya Dīpikā thus: यदुवाच वाचस्पतिः पृथिव्यापः, etc.[25] This also signifies that Jayarāśi quotes from Bṛhaspati. The word परमार्थविद्भिः (p. 1) no doubt, also refers to Bṛhaspati as the quotation लौकिको मार्गोऽनुसर्तव्यः etc. suggests. At the end of his work Jayarāśi tells us that arguments which even could not occur to the Preceptor of Gods that is Bṛhaspati obtain in his work TPS.

That J. is developing the doctrine of the orthodox (!) Lokāyata also becomes clear from the first paragraph of the text. He has to explain as to why he talks of tattvopaplava when Bṛhaspati says: अथातस्तत्त्वं व्याख्यास्यामः । पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि etc. Jayarāśi in effect says that B. is merely reflecting (प्रतिबिम्बनार्थम्) in his statement the belief of the people; but that what B. really means is that when one thinks one finds that even that Tattvas like पृथ्वी etc. do not stand – what to say about others ? Jayarāśi thus disposes off the orthodoxy and starts, so to say, with the permission of his Guru, by removing him out of the way, on his campaign of demolishing the doctrines of other schools.

The critical method of Jayarāśi

The method which Jayarāśi adopts is what may be called critical method using the word in the Kantian sense. He in effect says the system of knowables depends upon the system of means of knowledge; while means of knowledge in order to be valid have to conform to reality. So one has to examine whether there are any valid means of knowledge before one can say anything about reality. J. is of the opinion that there are no valid means of knowledge and in order to prove his thesis he examines the different theories of the Pramāṇas or valid instruments of knowledge of the different schools of Indian Philosophy. That is why we call J.'s method critical[26].

---

25. P. 124. षड्दर्शनसमुच्चय published by Jaina Atmānanda Sabha, Bhavnagar.

26. अथ कथं तानि न सन्ति । तदुच्यते सल्लक्षणनिबन्धनं मानव्यवस्थानं, माननिबन्धना च मेयस्थितिः, तदभावे तयोः सद्व्यवहारविषयत्वं कथम् etc. p. 1, TPS

Tattvopaplavasiṁha

Jayarāśi starts with the examination of the प्रत्यक्षलक्षण of Naiyāyikas and tries to prove that it cannot stand (pp. 2–22). Then he discusses Mīmāṁsaka and Buddhist views of Pramāṇa as such (22 to 32) and follows it up with the criticism of their respective प्रत्यक्षलक्षणs (32–58,58–61). Then comes the turn of the Sāṅkhya view of प्रत्यक्ष (61–64). Then again the Naiyāyikas have to withstand his attack on their theory of अनुमान (pp. 64–74). While discussing अनुमान Jayarāśi finds it convenient to examine the various theories about आत्मन् or soul. In this connection he deals with the Naiyāyika, Jaina, Mīmāṁsaka, Sāṅkhya and Vedānta theories of soul (p. 74-83). Having finished this part of his argument he again turns to the theory of अनुमान, this time of the Bauddhas including their स्वभावानुमान (pp. 82–109). Then the six types of अर्थापत्ति of Mīmāṁsakas are considered (109–10). Upamāna of the Naiyāyikas and Abhāva of the Mīmāṁsakas are briefly dealt with (pp. 110–19) and a reference to Aitihya and Sambhava also made by saying that they come under शब्द and अनुमान respectively.

The last section is directed to the examination of शब्दप्रामाण्य (113–25) and in that connection the theory of the grammarians especially that of Bhartṛhari is also examined (120–23).[27] After this detailed criticism Jayarāśi comes to the conclusion : तदेवमुपप्लुतेष्वेव तत्त्वेषु अविचारितरमणीयाः सर्वे व्यवहारा घटन्ते ।

This summary account of the main contents of the work clearly shows the viewpoint of Jayarāśibhaṭṭa as critical. In fact he has criticized all the varieties and theories of प्रमाण known to Indian Philosophy of his time. Here a question arises whether this method is merely वितण्डा or an honest effort to show that as there are no valid means of knowledge nothing which can be said to conform to reality can be asserted. Vitaṇḍā has been defined by Gautama as स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा । The Jalpa (the sort of discussion which uses all sorts of arguments with a view to defeat the opponent) which has no opposite view to establish, is Vitaṇḍā. Can we say that J. has written this work merely for the fun of confounding different dialecticians and that he has nothing to say as a result of all this cogitation ? We do not think so. A careful reading of the text leaves the impression that J. is as serious a thinker as any

---

27. The verse अपशब्दोनुमानेन (p. 125 TPS) is found with a variation in the first pada in the Vaiyākaraṇabhūṣaṇasāra of Kauṇḍabhaṭṭa p. 202, C. S. S. We are indebted for this reference to Pandit Satyadeva-Miśra of the Brahmachari Wadi Samskṛt College, Ahmedabad.

other, and that he wants to show the incapacity of human instruments of knowledge to know anything really. This tendency in Indian thought is not altogether new and can be traced from the Vedas, down to Jayarāśibhaṭṭa. But for the present suffice it to say, that the TPS of Bhaṭṭa Jayarāśi adds a new chapter to the History of Indian Philosophy !

विषयानुक्रमः

ABBREVIATIONS

जैमि०	जैमनीयसूत्राणि	(N. S. P.)
तत्वसं० का०	तत्वसंग्रहकारिका	(G. O. S.)
न्यायबि०	न्यायबिन्दुः	(B. I.)
न्यायसू०	न्यायसूत्राणि	(C. S. S.)
प्रमाणवा०	प्रमाणवार्तिक	(Appendix to J. B. O. R. S. Vol. XXIV)
वैशे०	वैशेषिकसूत्राणि	(C. S. S.)
शाबरभा०	शाबरभाष्यम्	(N. S. P.)
श्लोकवा०	श्लोकवार्तिकम्	(B. I.)
सन्मति०	सन्मतितर्कः	(P. M. G.)

घृ०	घृष्टम्
टि०	टिप्पणम् (ताडपत्रपार्श्वगतम्)
परि०	परिमार्जितम्
परिव०	परिवर्तितम्

A. S.	Aṣṭa Sahasrī (G. N. J. G.)
A. T.	Akalaṅkagranthatrayam. (S. J. G.)
B. B.	Bibliotheca Buddhica
B. I.	Bibliotheca Indica
B. L.	Buddhist Logic. (B. B. XXVI)
B. P.	Buddhist Philosophy (Oxford)
B. S. S.	Bombay Sanskrit Series
C. S. S.	Chaukhamba Sanskrit Series
G. N. J. G.	Gandhi Natharanga Jaina Grantha Mālā
G. O. S.	Gaekwad's Oriental Series
H. I. L.	History of Indian Logic (Calcutta University)
H. I. S.	Heritage of India Series
H. S. L.	A History of Sanskrit Literature (Oxford)
J.B.O.R.S.	Journal of the Bihar and Orissa Research Society
J. S. S.	Jaina Sahitya Saṃśodhaka
K. K. K.	Khaṇḍana Khaṇḍa Khādya (C. S. S.)
K. M.	The Karmamīmāṁsā (H. I. S.)
K. S.	Kāvyānuśāsana (M. J. V.)
M. J. G.	Manikyachandra Jaina Grantha Mālā
M. J. V.	Mahāvira Jaina Vidyalaya
N. K. C.	Nyāyakumuda-Chandra (M. J. G.)

N. S. P.	Nirnaya Sagar Press
P. M. G.	Purātattva Mandira Granthāvali
S. D. L. J.	Śresthi Devchandra Lalbhai Jaina Pustakoddhāra
S. D. S.	Sarvadarśana Saṁgraha
Sh. D. Sm.	Ṣaḍdarśana Samuchchaya
S. J. G.	Singhi Jaina Granthamala
S. V. S.	Śāstravārtā Samuchchaya (S. D. L. J.)
TP.	Tattvopaplava
TPS.	" " Siṁha
T. S. V.	Tattvārtha Śloka Vārtika (G. N. J. G.)

CORRECTIONS

Read गवादि प्राप्त्या	as	गवादिप्राप्त्या p. 4 l. 24
एक विषयो	as	एकविषयो p. 27 l. 14
अपूर्वार्थि गृहीतित्वेन	as	अपूर्वार्थिगृहीतित्वेन p. 33 l. 12
अभाव विषय०	as	अभावविषय० p. 42 l. 18
विर्ज्ञान सदाकार०	as	विज्ञानसदाकार० p. 55 l. 20
[०क्तेर्खण्डनम्]	as	[क्तेः खण्डनम्] p. 50 § 13
[०पत्तेर्पुन०]	as	[०पत्तेः पुनः] p. 87 § 3

Add [प्रमाणवा० ३. २५१] after line 18 p. 45

Omit (?) after वैशेषिकाः । line 8 p. 122

CONTENTS

भट्टश्रीजयराशिप्रणीतः

॥ तत्त्वोपप्लवसिंहः ॥

[§ १. ग्रन्थकरणप्रतिज्ञा ।]

.... तां यात मुन ....

[त]त्त्वोपप्लवसिंह एष विषमो नूनं मया [सृज्यते]....

नास्ति तत्फलं वा स्वर्गादि । सत्यं, तावदा(दे)तस्य कर्मणः स भा.........

उक्तं च परमार्थविद्भिरपि-

"लौकिको मार्गोऽनुसर्त्तव्यः अ[ति ?] ...... ।

लोकव्यवहारं प्रति सदृशौ बालपण्डितौ ॥" इत्यादि ।

[§ २. बृहस्पतेस्तत्त्वचतुष्कोक्तेरपि तत्त्वोपप्लवपरत्वम् ।]

ननु यद्युपप्लवस्तत्त्वानां किमाया ......

" अथातस्तत्त्वं व्याख्यास्यामः " " पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसञ्ज्ञा " [ ] इत्यादि ? न, अन्यार्थत्वात् । किमर्थम् ? प्रतिबिम्बनार्थम् । किं पुनरत्र प्रतिबिम्ब्यते ? पृथिव्यादीनि तत्त्वानि लोके प्रसिद्धानि, तान्यपि विचार्यमाणानि न व्यवतिष्ठन्ते किं पुनरन्यानि ?

अथ कथं तानि न सन्ति ? तदुच्यते-सल्लक्षणनिबन्धनं मानव्यवस्थानम्, माननिबन्धना च मेयस्थितिः, तदभावे तयोः सद्व्यवहारविषयत्वं कथं [स्वयमेव]... ताम् । अथ...न ब... व्यवहारः क्रियते; तदात्मनि रूपास्तित्वव्यवहारो घटादौ च सुखास्तित्वव्यवहारः प्रवर्त्तयितव्यः ।

[१. न्यायसंमतस्य प्रत्यक्षलक्षणस्य परीक्षा ।]

अ........

"[इ]न्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्" [न्यायसू. १।१।४] इति तल्लक्षणम् ।

[§ १. अदुष्टकारकेत्यादिविकल्पचतुष्टयेन अव्यभिचारिपदस्य दूषणोपक्रमः ।]

तच्चाव्यभिचा[रि] ... ... किमदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन, आहोस्विद् बाधारहितत्वेन, प्रवृत्तिसामर्थ्येन, अन्यथा वा? तद्यद्यदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन अव्यभिचारित्वम्; सैव कारणानामदुष्टता केनावगम्यते ? न प्रत्यक्षेण; नयनकुशलादेरतीन्द्रियत्वात्। नाप्यनुमानेन; लिङ्गान्तराऽनवगतेः। ननु इदमेव ज्ञानं लिङ्गं तदुत्थं तस्य विशिष्टतां गमयति; यद्येवम् इतरेतराश्रयत्वं दुरुत्तरमापनीपद्यते। किञ्च, इन्द्रियाणां गुणदोषाश्रयत्वे तदुत्थे विज्ञाने दोषाशङ्का नातिवर्त्तते पुंव्यापारोत्पादितशब्दविज्ञान इव ।

अथ बाधानुत्पत्त्याऽव्यभिचारित्वं ज्ञायते; बाधानुत्पत्तिर्विज्ञानस्य किं यथार्थगृहीतित्वेन, आहोस्विद् बाधकज्ञानोत्पादककारकवैकल्यादिति सन्दिह्यः ? दृश्यते हि बाधकज्ञानोत्पादककारकवैकल्याद् बाधानुत्पादः, यथा दूरे मरीचिनिचये जलज्ञाने जाते बाधा न संपद्यते, अभ्यासदेशावस्थितस्य कारकोपनिपाते सत्युत्पद्यते। सा चोपजायमाना संवत्सरादिकालविकल्पेन संजायते, कदाचिच्च कारकवैकल्यान्नैव सम्पद्यते । न चैतावता तस्य यथार्थता उपपद्यते ।

अपि च, बाधाविरह एव बाधासद्भावावेदकः तदुपलब्धत्वेन तत्सद्भावोपलब्धेः ।

अन्यच्च, बाधाविरहः किं सर्वपुरुषापेक्षया, आहोस्वित् प्रतिपत्त्रपेक्षया ? तद्यदि सर्वपुरुषापेक्षया...तद्विरहोऽस्य... [स]र्वज्ञाः स्युः। भवन्तु नाम सर्वे सर्वज्ञाः को दोषः ? असर्वज्ञव्यवहाराभावप्रसङ्गः ।

अथ प्रतिपत्त्रपेक्षया बाधानुत्पादः–प्रतिपत्तुर्बाधकं विज्ञानं नोत्पद्यते तेन तदव्यभिचारि; तदयुक्तम्; प्रतिपत्तुर्बाधकज्ञानाऽनुत्पादेऽपि देशान्तरगमन-मरणादिना मणिमरीच्यादिविपर्ययज्ञानदर्शनात्। अथवा तद्विपर्ययज्ञानं तथाविधमेवोत्पन्नं स्वप्रभवस्वभावानुप्रवेशेन यद्बाधकविज्ञानोत्पादप्रतिबन्धकृत् तद्धशोऽपि तथाभूत एव परेष्टसम्यग्ज्ञानवत्। ...एवं सति यदुक्तम्–"यत्र च दुष्टं करणं यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः स एव असमीचीनः प्रत्ययः" [शाबरभा० १।१।५] इत्येतदेवाऽसमीचीनम्।

अथ प्रवृत्तिसामर्थ्येन अव्यभिचारितां वेत्सि; प्रवृत्तिसामर्थ्यं फलेनाऽभिसम्बन्धः, फलं च स्रक्चन्दनवनितोदकादि, तेषु सत्यफलनिष्पत्तेः तेषु फलोपचारः तद्देहसम्बन्धः प्रवृत्तिसामर्थ्यम्। प्रवृत्तिः कायस्था क्रिया तत्सामर्थ्यम् अव्यभिचारितां गमयति। तत्किम् अवगतम्, अनवगतं वा ? यदि नावगतम्; तद् 'अस्ति' इति कथं वेत्सि ? अथाऽवगतम्; तदवगतेरव्यभिचारिता कथमवगम्यत इति पूर्वोक्तमनुसर्त्तव्यम्।

उदकप्राप्त्या पूर्वोत्पन्नोदकविज्ञानस्य अव्यभिचारिता व्यवस्थाप्यते; किं तत्प्रतिभातोदकप्राप्त्या, आहोस्वित् तज्जातीयोद[क]प्राप्त्या, तद्धंशजजलप्राप्त्या वा ?

तद्यदि प्रतिभातोदकप्राप्त्या; तदयुक्तम्; प्रतिभातोदकस्य अवस्थानं नोपपद्यते, झषमहिषपरिवर्तनाऽभिघातोपजाताऽवयवक्रियान्यायेन प्रत्यस्तमयसंभवात्।

अथ तज्जातीयोदकप्राप्त्या, एवं तर्हि असत्योदकज्ञानेऽपि जाते कचित्तोयमासादयन्ति पुमांसः तदप्यवितथं स्यात्। अथ तद्देशकालसंलग्नमुदकं न प्रापयति मिथ्याज्ञानम्, सम्यग्ज्ञानं तु तद्देशकालसंलग्नमुदकं प्रापयति तेन तदव्यभिचारीति चेत्; यन्न प्रापयति तद् व्यभिचारि तर्हि मुमूर्षुपदार्थोत्पादितं

ज्ञानं चन्द्रार्कग्रहनक्षत्रतारकादिसंवेदनं च व्यभिचारि प्राप्नोति। न च तद्देशकालसंलग्नोदकप्रापकत्वमस्ति, देशस्यापि उदकवद् विनाशसंभवात्।

[§ २. प्रसङ्गात् जातेर्निराकरणम्।]

नच जातेः संभवोऽस्ति। स एव कथम् ? कथ्यते-सा' उदकव्यक्तिभ्योऽभिन्ना, भिन्ना, भिन्नाऽभिन्ना वेति ?

तद्यदि तादात्म्यव्यवस्थिता; तदा इह तासां नानात्वेन तस्यापि(तस्या अपि) नानात्वोपपत्तिः, तदेकत्वे च सर्वासामेकतापत्तिः। एकत्वे च निःसामान्यता तादात्म्यविपर्यासो वा।

अथ अर्थान्तरभूता; सा व्यावृत्ताकारा, अनुगताकारा वा? तद्यदि व्यावृत्ताकारा; न तस्याः सामान्यरूपत्वं व्यावृत्तैकस्वभावत्वात् तोयादिवत्।

अथ अनुस्यूतरूपा; तत्किम् आत्मरूपानुस्यूता, पररूपानुस्यूता वा? तद्यद्यात्मरूपानुस्यूता, तदयुक्तम्; आत्मन्यनुगमाऽभावात्।

अथ पररूपानुस्यूता; केयं पररूपानुस्यूतता- किं तत्तादात्म्यम्, तत्समवायो वा? तद्यदि तादात्म्यम्; सामान्यतद्वतोरभेदप्रसङ्गः।

अथ पररूपसमवायः अनुस्यूताकारता; तदयुक्तम्; सामान्याद्भिन्नः समवायः। सामान्यस्य अनुगतं रूपमालोचयितुमारब्धं न ततोऽन्यस्य।

यदि च उदकजातीयार्थप्राप्त्याऽव्यभिचारिता पूर्वोदितोदकविज्ञानस्य व्यवस्थाप्यते; तदा उदकजातेर्गवादावपि संभवोऽस्ति गवादि प्राप्त्याऽव्यभिच(चा)रिता उदकविज्ञानस्य स्यात्।

अथ उदकत्वस्य गवादावभाव इति चेत्; किम् इतरेतराभावः, प्रागभावः, प्रध्वंसाभावः, अत्यन्ताभावो वा? तद्यदीतरे-

तराभावः; तदा उदकादावपि समानम् उदकत्वस्याऽभावप्रसङ्गः। उदकरूपता न उदकत्वस्य, उदकत्वरूपता च नोदक......

अथ प्रागभावः; तदा उदकेऽपि उदकस्याभावप्रसङ्गः।

अथ प्रध्वंसाभावः; तदा उदकेऽपि अभावप्रसङ्गः। अथ अन्यत्रास्ति; नैकत्र प्रत्यस्तमितस्य अन्यत्र संभव उपपद्यते।

अथ अत्यन्ताभावः; तदा उदकेऽपि तस्याऽभावप्रसङ्गः।

अथ सम्बन्धाभावाद् गवादावुदकत्वाभाव इति चेत्; तत्रापि किम् इतरेतराभावः, प्रध्वंसाभावः, अत्यन्ताभावो वेति पूर्ववद् वक्तव्यम्। निमित्तान्तराभावाद् गवादाव(वु)दकत्वाभाव इति चेत्; सोऽत्रापि समानः।

न च उदकव्यक्तीनां नानात्वमुपपादयितुं पार्यते। उदकम् अनुदकाकाराद् उदकाकारतया व्यावर्त्तते, उदकाकारात्तु कथं व्यावर्त्तते? किम् उदकाकारतया, आहोस्विद् आकारान्तरेण? तद्यद्युदकाकारतया व्यावर्त्तते, तदा अन्यासामुदकव्यक्तीनाम् अनुदकाकारता प्राप्नोति रसादेरिव। अथ अनुदकाकारतया उदकाकारान्निवर्त्तते; ततो दहनादेरिव अनुदकत्वप्रसङ्गः।

अथ उदकाकाररूपताऽविशेषेऽपि अवान्तरगणिकाकारभेदपरिकॢप्तिरिति चेत्; सत्यम्, अवान्तरगणिकाकारः तोयतादात्म्यव्यवस्थितः, अतादात्म्यव्यवस्थितो वा? तद्यदि तादात्म्यव्यवस्थितः, तदा उदकाकारतया उदकान्तराद्भिद्यते। एवं चान्यासामुदकव्यक्तीनामनुदकरूपता प्राप्नोति, पूर्वोदितमेव दूषणम्।

अथातादात्म्यव्यवस्थितः; तर्हि अनुदकत्वं रसादेरिव। अथ उदकत्वव्यावृत्त्या ऽनुदकाकाराद् व्यावर्त्तते; शृण्वन्तु अमी बाललपितं विपश्चितः! यद्युदकत्वव्यावृत्त्याऽनुदकाद् व्यावर्त्तते तोयम्, उदकत्वं च उदकाद् अनुदकाच्च कथं व्यावर्त्तते? न जात्यन्तरं व्यावर्त्तकमस्ति। अभ्युपगमे वा अनिष्ठोपप्लवाऽनुबन्धः

स्यात्। तस्मात् स्वेनैवरूपेण इतरेतरात्मना व्यावर्त्तते न जात्यादिना व्यावर्त्तते, जात्यादेरव्यावृत्तिप्रसङ्गात्। तस्मात् स्थितमेतत् नोदकव्यक्तीनां नानात्वोपपत्तिः तदनुपपत्तौ नोदकत्वं नाम सामान्यमस्ति स्वत्ववत्।

इतोऽपि न विद्यते सामान्यम्, नित्यस्य सतो विज्ञानजनकत्वायोगात्। तदेवकथम्? व्युत्पाद्यते—विज्ञानजनकावस्थायां यदेव स्वरूप(पं) सामान्यात्मकं शक्तिमच्छक्तिरूपं च कारकान्तरानपेक्षयाऽजनकावस्थायां तदेव रूपम्, अतः पूर्वमपि कार्योत्पादप्रसङ्गः। अनुत्पादे वा प्रागे(गि)व इदानीमपि [न] जनयेत्। अथ कारकान्तरमपेक्ष्य उत्पादयति कार्यम्, किं तेन कारकान्तरेण तस्य क्रियते कारकत्वम्, ज्ञाप्यते वा? तद् व्यु-(तद् यद्यु)त्पाद्यते; सुस्थितं नित्यत्वम्! उत ज्ञाप्यते; सिद्धं तर्हि कारकत्वम्, तदभावेऽपि विद्यमानस्याऽवद्योतनात्। भवतु नाम कारकत्वं को दोषः? कार्योत्पत्तिप्रसङ्गः। अथ कारकत्वेऽपि कार्यं न जनयेत्; अहो राजाज्ञा गरीयसी नैयायिकपशोः!

इतोऽपि नास्ति सामान्यम्; तदुपपादकमानव्यतिरेकात्। ननु अस्ति प्रमाणम्—'अनयोः सादृश्यम्' 'एषां सारूप्यम्' 'तेन सदृशोयम्' 'असौ वा तेन सदृशः' इत्यादिज्ञानं सामान्यसत्तावबोधक(कं) अप्रतिपन्नसामान्यस्य नोपपद्यते। अस्ति त्विदं विज्ञानं बाधाविकलं जातितनुव्यवस्थापकम्; तदेतदयुक्तम्; किं निमित्तभूतेन तेन एवंविधं ज्ञानमुत्पाद्यते, कर्मतापन्नेन वा? तद्यदि निमित्तभूतेन उत्पाद्यते; तदा न सामान्यं कल्पनीयम्, असामान्यात्मकमेव निमित्तमित्थम्भूतसामान्यज्ञानोत्पादनाय, अलं सामान्यकल्पनया। अथ कर्मतापन्नेन उत्पाद्यते; तदसत्; नैवाऽवभाति विज्ञाने सामान्यं धूर्त्तैरविपर्यासितसंविदाम्। ननु सादृश्यमवभाति; सत्यम्, अवभाति, नापह्नूयते अपि तु—द्रव्यगुणकर्मात्मकं सत् पाचकादिभेदेषु—यथा एषां पाचकत्वम्, एते पाचकाः,

तत्पाचकसदृशोऽयम्, असौ अनेन सदृश इति विशेषादावपि द्रष्टव्यम्। अत्रापि सामान्यपरिज्ञप्तिरिति चेत्; न; सूत्रव्याघातात्-"सामान्यविशेषेषु सामान्यविशेषाऽभावात् तत एव ज्ञानम्" [वैशे. ८।१।५], अनिष्ठा च–विशेषेषु सामान्ये परिकल्प्यमाने सति सन्देहः, सति सन्देहे तेषु विशेषान्तरं परिकल्पनीयम्, पुनः सामान्यम् इत्यनिष्ठा इत्यलम् असद्ग्रहाऽभिनिवेशेन।

अथ भिन्नाभिन्नं सामान्यं भवद्भिः प्रतिपाद्यते–आकारभेदेन व्यक्तिभ्य उपलभ्यते इत्यर्थान्तरम्, देशाभेदेन तु नैव उपलभ्यते इत्यव्यतिरिक्ते(क्तं); तदेतन्महासुभाषितम्, न देशभेदेनैव वस्तूनां भेदः अपि तु आकारभेदेनैव भावा भेदमुपयान्ति। यथा च आकारभेदो नास्ति तथाऽनन्तरमेव निवेदितम्।

[§ ३. प्रसङ्गात् समवायस्य निरसनम्]

सामान्यं समवायवृत्त्या व्यक्तिषु वर्त्तते इति। न चासौ विद्यते। समवायो हि-व्यावृत्तैकस्वभावः, अनुगतैकस्वभावो वा? तद्यदि व्यावृत्तैकस्वभावः, कस्यासौ समवायः, सर्वतो व्यावृत्तेः नीलादिवत्। अथ अनुगतैकस्वभावः; सामान्यम् तर्हि, न समवायः, नित्यस्य सतोऽनेकत्रवृत्तेर्गोत्वादिवत्, उपपादकप्रमाणाभावाच्च। ननु प्रत्यक्षबुद्ध्यवसेयोऽसौ; तदयुक्तम्; किं सम्बन्धबुद्ध्याऽध्यवसीयते, आहोस्विद् इहबुद्ध्या, समवायबुद्ध्या वा उच्यते?।

तद्यदि सम्बन्धबुद्ध्या; कोऽयं सम्बन्धः? किं सम्बन्धजातियुक्तः सम्बन्धः, आहोस्विद् अनेकोपादानजनितः, अनेकाश्रितो वा, सम्बन्धबुद्धिविशेषो वा, सम्बन्धबुद्ध्युत्पादको वा, सम्बद्धा-(न्धा)कारो वा? तद्यदि सम्बन्धजातियुक्तस्ते सम्बन्धः; सोऽनुपपन्नः; समवायाऽसम्बन्धत्वप्रसङ्गः। अथ अनेकोपादानजनितः सम्बन्धः; तदा कुम्भादेरपि सम्बन्धत्वप्रसङ्गः। अथ अनेकाश्रितः

सम्बन्धः तदा घटजात्यादेः सम्बन्धत्वं प्रसज्यते। अथ सम्बन्धबुद्ध्युत्पादकस्ते सम्बन्धः उच्यते; तदा लोचनादेरपि सम्बन्धत्वप्रसङ्गः। अथ सम्बन्धबुद्ध्यवसेयः सम्बन्धोऽभिधीयते; तदा कौलेयककरिकुमारादिष्वपि सम्बन्धशब्दव्युत्पादने सम्बन्धत्वप्रसङ्गः। सम्बन्धेतरयोः एकविज्ञानविषयत्वे इतरस्य सम्बन्धरूपता प्राप्ता। अथ सम्बन्धाकारः सम्बन्धः; संयोगाऽभेदप्रसङ्गः। अवान्तरगणिकाकारस्तु यथा न भेदकः तथा पुरस्तादुक्तमेव दूषणम्।

अथ 'इह तन्तुषु पटः' इति इहबुद्ध्याऽध्यवसीयते; नः इहबुद्धेरधिकरणसंविद्रूपत्वात्। न चास्मिन्ना(नचान्यस्मिन्ना)कारे प्रतीयमाने अन्यत् परिकल्पयितुं न्याय्यम्, अतिप्रसङ्गात्। अथ समवायबुद्ध्याऽऽत्मसात्क्रियते; सोऽप्यनुपपन्न एव, समवायबुद्धेरनुपपत्तेः, 'अयं तन्तुः, अयं पटः, अयमनयोः समवायः' इति न जातु जानते जनाः।

अथ अनुमानेन अनुमीयते; द्वे अनुमाने—दृष्टम्, सामान्यतो दृष्टं च। न दृष्टम्; प्रत्यक्षव्यतिरेकात्। सामान्यतो दृष्टमपि नास्ति; तत्प्रभवकार्याऽनुपलब्धेः।

नन्विहबुद्धिरेव समवायज्ञापिका-'इह तन्तुषु पटः' इति प्रत्ययः सम्बन्धनिमित्तः, अबाधित-इहप्रत्ययत्वात्, 'इह कुण्डे दधि' इति प्रत्ययवत्। किमनेन अनुमीयते-किं निमित्तमात्रम्, उत सम्बन्धः? यदि निमित्तमात्रम्, ततः सिद्धसाध्यतया संबाधयितव्यः। अथ सम्बन्धः; संयोगः, समवायो वा? संयोगानुमाने उपगमहानिः। समवायानुमाने सम्बन्धव्यतिरेकः। न चान्यस्य सम्बन्धः अन्यस्यगमकत्वम्, अतिप्रसङ्गात्। न जातु देवदत्तनयनकुटसम्बन्धो यज्ञदत्तेन्द्रियं रूपादिकमर्थं करणत्वसाम्यात् प्रकाशयद् दृष्टम्। एवं सति सामान्यसमवायविरहे कथं द्रव्यादि व्यवस्था इति चिन्त्यते।

अथ तद्वत् सत्य(अथ तद्वंशज)जलप्राप्त्या अव्यभिचारिता ज्ञायते; तदयुक्तम्; अन्त्यावयविद्रव्याणां जनकत्वव्यतिरेकात्। न च उदकव्यक्तीनां नानात्वमस्ति, यथा च न विद्यते तथा निवेदितं पुरस्तात्।

किञ्च, प्रवृत्तिसामर्थ्येन अव्यभिचारिता पूर्वोदितज्ञानस्य ज्ञाप्यते–किं लिङ्गभूतेन, आहो अध्यक्षात्मकेन ? तद्यदि लिङ्गभूतेन; तदयुक्तम्; तेन साकं सम्बन्धानवगतेः। अवगतौ वाऽलं प्रवृत्तिसामर्थ्येन । अथ अध्यक्षात्मकेन; तदयुक्तम्; पूर्वोदितप्रत्यस्तमितेन साकं सन्निकर्षाऽभावात् । तद्विषयविज्ञानं न प्रत्यक्षफलं निरालम्बनत्वात् केशोण्डुकादिसंवेदनवत्। न विज्ञानस्याभावोऽवभाति, न भावः तदभावात्।

अविद्यमानस्य विषयार्थो वक्तव्यः – किम् आकारार्पकत्वेन वा, महत्त्वादिधर्मोपेतत्वेन वा, सत्तामात्रेण वा, सहोत्पादेन वा ? सर्वस्य प्रत्यस्तमितत्वात् कथमसौ विषयः ? तद्विषयत्वे केशोण्डुकादिविज्ञानस्येव मिथ्यात्वे बीजमन्वेषणीयम्। आत्मसत्तामात्रेण मिथ्यात्वे सर्वस्य मिथ्यात्वमापद्यते ततः तत्त्वोपप्लवः स्यात्।

अथ अन्यथाऽव्यभिचारित्वं गृह्यते–आत्मान्तःकरणसम्बन्धेन उत्पन्नं विज्ञानम् अव्यभिचारिताविशिष्टं प्रद्योत्यते; तदयुक्तम्; तदव्यभिचारित्वं तद्धर्मो वा, तत्स्वरूपं वा ? तद्यदि तद्धर्मः–स नित्यः, अनित्यो वा ? यदि नित्यः; तदा जातिदोषेणापोपोदि(णापोदि)तो वेदितव्यः।

अथाऽनित्यः–स पूर्वोत्पन्नः, सह, पश्चाद्वा जातः ? तद्यदि पूर्वोत्पन्नः; तदा कस्यासौ धर्मः ? न हि धर्मिणमन्तरेण धर्मो भवितुमर्हति, सर्वतो व्यावृत्तरूपत्वात् कः कस्येति वक्तव्यम्। अथ सहोत्पन्नः; कस्तयोः सम्बन्ध इति वक्तव्यम् । तादा-

२ त.

त्म्यतदुत्पत्तिसमवायसम्बन्धाभावे सति षष्ठ्यर्थो वक्तव्यः 'तस्य अव्यभिचारित्वम्' इति। अथ पृष्ठोत्पन्नस्तर्हि पूर्वं व्यभिचारिता विज्ञानस्य प्राप्नोति। न च आध्यात्मिकोऽव्यभिचारिरूपो धर्मोस्ति सुखादिव्यतिरिक्तः; तत्प्रतीत्यसंभवेन स्वयमनभ्युपगमात्। यदि च अव्यभिचारादयो धर्मा अर्थान्तरभूताः अभ्युपगम्यन्ते तैरवच्छिन्नं विज्ञानं सामग्र्या अवस्थापकमुद्घुष्यते; तच्चानुपपन्नम्; प्रत्येकमनेकविशेषणावच्छिन्नविज्ञानप्रतिपत्तिकालावस्थानायोगात्, ज्ञाप्यज्ञापकयोरभावे कर्त्तृमात्रप्रबन्धि ज्ञानं स्यात्।

अथ तत्स्वरूपमव्यभिचारित्वम्—तत्किं स्वसत्तामात्राऽनुरोधेन, अर्थान्तरसत्तानुरोधेन वा? तद्यदि ज्ञानसत्तामात्रतैवाऽव्यभिचारित्वमुच्यते, तदा केशोण्डुकसंविदोऽपि अव्यभिचारिता स्यात्। नच ज्ञानसत्तामात्रानुरोधेन ज्ञानं व्यभिचार्यव्यभिचारि वा उद्गीयते।

अथ अर्थान्तरसत्तानुरोधेन अव्यभिचारित्वम्—किम् अनुपकारकाऽर्थान्तरसत्तानुरोधेन, आहोस्विद् उपकारकाऽर्थान्तरसत्तानुरोधेन? तद्यदि तावद् अनुपकारकाऽर्थान्तरसत्तानुरोधेन, तदा केशोण्डुक-इन्दुद्वयसंविदोऽप्यव्यभिचारिताप्रसङ्गः।

अथ उपकारकाऽर्थान्तरसत्तानुरोधेन अव्यभिचारिता—किं प्रतीयमानाऽर्थान्तरोपकारकसत्तानुरोधेन, तद्विपरीतार्थान्तरोपकारकसत्तानुरोधेन वा? तद्यदि पूर्वपक्षाभ्युपगमः, तदा अतीताऽनागतानुमानविज्ञानस्य योगिप्रत्यक्षस्य च चोदनावचनजनितविज्ञानस्य वाऽव्याभिचारिता न भवेत् तदवगतोपकारकार्थाभावात्, भावे वा वितान*क्रियालोपप्रसङ्गः। अथ उत्तरो मतः; तदा केशोण्डुक-इन्दुद्वयसंविदोऽव्यभिचारित्वं प्रसज्यते इत्यसद्गृहीतम्।

* 'वितान' 'क्रिया' अनयोर्मध्ये अखिलेति छिन्नं वर्त्तते।

किञ्च, तद्विज्ञानम् अव्यभिचार्यवगतं सामग्र्या ज्ञापकम्, अनवगतं वा ? यद्यवगतम्; तस्यावगतिः आत्मसंविद्रूपा वा, ज्ञानान्तरवेद्या वा ? तद्यद्यात्मसंवेदनरूपावगतिः; तदयुक्तम्; द्व(स्व)यमनभ्युपगमात् । अभ्युपगमे वा उपगमविरोधः ।

अथ ज्ञानान्तरवेद्यं वेत्सि; विज्ञानयोर्भेदे बीजमन्वेष्टव्यम् । ज्ञानमज्ञानाकारात् ज्ञानात्मतया व्यावर्त्तते ज्ञानान्तरात्तु कथं व्यावर्त्तते ? –किं ज्ञानात्मतया व्यावर्त्तते आहोस्विद् आकारान्तरेण ? तद्यदि ज्ञानात्मतया व्यावर्त्तते; तदा अन्यस्य ज्ञानात्मता निवर्त्तते तोयादेर्यथा ।

अथ आकारान्तरेण; आकारान्तरस्वीकरणे ज्ञानाकारविरहः स्यात् आकारयोस्तादात्म्याऽयोगात् । तादात्म्ये वा एकं तद्वस्तु ज्ञातं(नं) अज्ञातं(नं) वा ? यदि ज्ञातं(नम्); न तर्हि आकारान्तरेण व्यावर्त्तते किन्तु ज्ञानात्मतयैव, अन्यस्य अज्ञानात्मकत्वप्रसङ्गः । अथ अज्ञातं(नं); सिद्धं नः समीहितम् । अथ ज्ञानत्वं व्यावर्त्तकम्, तत्केन व्यावर्त्तते इति पूर्वोक्तमनुसर्त्तव्यम् । विज्ञानान्तरवेद्यमपि न संभवति ।

अथ न वेद्यते; तदस्तीति कथं पुनर्वेत्सि ? अनेनैव वर्त्मना सत्येतरविज्ञानयोर्विभागाभावोऽभ्युपगन्तव्यः । अतोऽव्यभिचारिपदमपार्थकम् ।

[§ ४. प्रकारान्तरेण अव्यभिचारिपदस्य निरासः ।]

इतोप्यपार्थकम्–इन्द्रियार्थसन्निकर्षपदेन अपोदि(हि)तत्वात् । नहि केशोण्डुकविज्ञानस्य नयनार्थसन्निकर्षोद्भूतिरस्ति । नन्वस्ति मरीच्युदकविज्ञानस्य, तदपनोदाय अव्यभिचारिपदम्; तन्न; यत उदकं प्रतिभाति, न च तेन सह सम्बन्धोऽस्ति । विद्यमानेन साकं सम्बध्यते नाऽविद्यमानेन । तत्सम्बन्धे वा, न तद्विषयो(ये) मिथ्यात्वमिहोपपद्यते सत्योदकसंवेदनवत् ।

ननु यद्यपि प्रतीयमानोदकेन सह सम्बन्धो नास्ति चक्षुषः, तथापाप्त्या(थाप्त्या)लम्ब्य मरीचिनिचयेन साकं सम्बन्धोऽस्ति, तस्यैव आलम्बनत्वात् तद्देशं प्रति प्रवृत्तेः, अत एव मिथ्यात्वम्, अन्यदालम्बनम् अन्यच्च प्रतिभाति।

[§ ५. प्रसङ्गादालम्बनपदार्थस्य परीक्षणम्।]

कोऽयमालम्बनार्थो नाम येनेदमुद्घुष्यते – अन्यदालम्बनं चान्यत् प्रतिभातीति ?–किं विज्ञानजनकत्वम्, आकारार्पकत्वम्, विज्ञानाधिकरणत्वम्, विज्ञानावभासितता वा ? तद्यदि विज्ञानजनकत्वमालम्बनार्थः; तदा नयनालोकादेरपि आलम्बनत्वं प्रसज्यते। अथ आकारार्पकत्वमालम्बनत्वम्; तदयुक्तम्, नैयायिकसमयेऽनभ्युपगमात्। यथा च विषयाकारो विज्ञाने न युज्यते तथोपरिष्टात् प्रतिपादयिष्यामः। अथ विज्ञानाधिकरणत्वमालम्बनत्वम्, [न;] न मरीचिचक्रोत्कलितमुदीयते ज्ञानम् अपि तु आत्मसमवेतमात्मानमासादयते। अथ विज्ञानावभासितता आलम्बनत्वम्; तदा उदकविज्ञाने उदकं प्रतीयते न मरीचयः।

अथ उदकाकारतया मरीचय एव प्रतीयन्ते; स उदकाकारो मरीचिभ्यो व्यतिरिक्तोऽव्यतिरिक्तो वा ? तद्यद्यव्यतिरिक्तः; स तात्त्विकोऽतात्त्विको वा ? यदि तात्त्विकः; कथं तदवगतेर्मिथ्यात्वम् ? अथाऽतात्त्विकः; तदा मरीचीनामपि अतात्त्विकत्वं प्रसज्यते। अतात्त्विकोदकतादात्म्ये सति तदुदकज्ञानमतथ्यम्। किमुक्तं भवति ? मरीचिविज्ञानमतथ्यम्। एकस्मिंश्चोदकाकारे प्रतीयमाने केन एतदाख्यातम्–मरीचयः प्रतिभान्ति देवानाम्प्रियस्य !

अथ अर्थान्तरभूतः; तर्हि न वक्तव्यम् – मरीचय उदकाकारतया प्रतीयन्ते उदकाकारान्तरिता मरीचयः। अथ केशोण्डुकविज्ञाने किमवभाति ? किमालम्बते ? केशोण्डुकस्यैव आलम्बनत्वं

प्रतीयमानत्वं च तथा उदकस्यैव आलम्बनत्वं प्रतीयमानत्वं च, नालम्बनान्तरं परिकल्प्यम् । न चोदकज्ञानस्य प्रतीयमानोदकाऽन्यालम्ब(न)त्वेन मिथ्यात्वम् अपि तु अभावात् तात्त्विकत्वेन, अन्यथा केशोण्डुकसंविदोऽपि मिथ्यात्वं न प्राप्नोति, अन्यालम्बनव्यतिरेकात् ।

यदप्युक्तम्—मरीचिदेशं प्रति गमनात् मरीचीनामालम्बनत्वम्; यद्येवं देशस्यापि आलम्बनत्वमनया रीत्या उपपद्यते । नच अवभातोदकभिन्नार्थसन्निकर्षजत्वम् उदकविज्ञानस्य उपपद्यते, सत्योदकज्ञानेऽदृष्टत्वात्, अन्यथा अनुमेयदहनज्ञानस्यापि इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वमापनीपद्येत आत्ममनःसन्निकर्षजत्वात् । अथ प्रतीयमानदहनेन सह मनसो नास्ति सम्बन्धः; तदिहापि प्रतीयमानेन अम्भसा सह नास्ति सम्बन्धः चक्षुषः। तस्मादव्यभिचारिपदं न युक्तम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षपदेनापोदितत्वात् ।

[§ ६. पुनः प्रकारान्तरेण अव्यभिचारिपदस्यापाकरणम् ।]

इतोऽप्यनुपपन्नम्, अपोह्यज्ञानाऽसंभवात् । अथ मरीच्युदकविज्ञानाय(प)निर्नी(नी)षया उपादीयते; तत्कथमपनीयते? अविद्यमानोदकविषयत्वात् । यद्यविद्यमान(नं); कोऽयं विषयार्थः ? पूर्वोदितमनुसरणीयम् । यदि तत्रोदकं प्रतिभाति कथं नास्ति ? सत्यम्, प्रतिभाति, किन्तु अतथ्यं प्रतिभाति ।

अतथ्यता का ?—किं प्रतीयमानस्याऽभावः, उत प्रतीयमान एव अभावः ? तद्यदि प्रतीयमानस्य अभावः—स किं तदैव, आहोस्वित् कालान्तरेण ? यदि तदैव; स किम्व(किमव)गतः, अनवगतो वा ? यद्यवगतः; स केनावगम्यते किमुदकविज्ञानेन, ज्ञानान्तरेण वा ? तद्युदकज्ञानेन; तन्न; तस्य उदकविषयत्वात् । तद्विषयत्वे वा न तर्हि 'उदकज्ञानं भ्रान्तम्' इत्युपपद्यते अभाव-

विषयस्य परमार्थसत्त्वात्। न च उदकाकारावगाहिनि विज्ञाने तोयविनिवृत्तयोऽवभान्ति अतिप्रसङ्गात्। अथ ज्ञानान्तरेण; न; ज्ञानयौगपद्यासम्भवात्।

यदि च अभावज्ञानेन अभावव्यवस्था क्रियते भावज्ञानेन च भावव्यवस्था, तदा उदकस्य भावाभावौ एककालौ स्याताम्। अथ भावज्ञानं भावव्यवस्थां न करोति अभावज्ञानं च अभावव्यवस्थां करोति। अहो राजाज्ञा नैयायिकपशोः। यदि च भावज्ञानं भावव्यवस्थां न करोति तदा सर्वभावेषु अनाश्वासप्रसङ्गः। तत्प्रसक्तौ अभावस्याप्यनवस्थितिः, तदनवस्थितौ च तत्त्वोपप्लवः स्यात्। अथाऽनवगतः; सोऽस्तीति कथं पुनर्वेत्सि? अथ कालान्तरे; तदा न किञ्चिद् बाध्यते सत्योदकस्यापि कालान्तरेऽभावोपपत्तेः।

अथ प्रतीयमान एव अभावः; कथं तद्विषयज्ञानस्य मिथ्यात्वमुपपद्यते प्रतीयमानस्यैव अभावस्योपपत्तेः? न च भावाकारे प्रतीयमाने अभावकल्पना न्याय्या अतिप्रसङ्गात्, अन्यथा रूपादौ प्रतीयमाने रसादिकल्पना कर्त्तव्या। न च क्रियते, तथेहापि उदकं प्रतीयते। ननु प्रतीयते किन्तु अतथ्यम्; यद्येवम् उदकप्रपञ्चोऽयं दीर्घोदकं मधुरोदकमिति यथा। नन्वत्र सर्वासु अवस्थासु उदकं प्रतीयते तेन तासु अम्भः प्रकल्प्यते। यद्येवं तदिहापि अवस्थाद्वयेपि उदकं प्रतीयते सत्योदकमसत्योदकं च। सत्योदकज्ञाने सत्योदकमवभाति नाऽसत्योदकमनुदकं वा। तथा असत्योदकज्ञानेऽसत्योदकं प्रतिभाति न सत्योदकमनुदकं वा, स्वविषयपर्यवसायिन्यो हि बुद्धयः ॥ छ ॥

अथ बाध्यमानत्वेन मिथ्यात्वमिति चेत्; किं बाध्यते—अर्थः, ज्ञानम्, उभयं वा? यद्यर्थस्य बाधा; स केन बाध्यते? किं स्वयमेव आत्मानं बाधते, आहो अर्थान्तरेण, ज्ञानेन वा? यदि

स्वयमेव आत्मानं बाधते; तदा बाधा तेन क्रियते, ज्ञाप्यते वा? यदि क्रियते; अव्यतिरिक्ता, व्यतिरिक्ता वा? यद्यव्यतिरिक्ता; तदा बाधा क्रियते इति आत्मा अनेनोत्पाद्यते। तच्च न जाघटीति स्वात्मनि क्रियाविरोधात्। अथ व्यतिरिक्ता क्रियते; तथापि विद्यमानस्य कर्त्तृत्वं न प्रतीयमानस्याऽपलापः।

अथ बाधा ज्ञाप्यते; साप्यभिन्ना, भिन्ना वा? यद्यभिन्ना; तदा बाधा तेन ज्ञाप्यते। किमुक्तं भवति? उदकं ज्ञाप्यते। अथ भिन्ना; तदा विद्यमानस्य ज्ञापकत्वं सिद्धं प्रतीयमानस्य चाऽस्तित्वम्।

अथ अर्थान्तरेण बाध्यते; तथापि विद्यमानयोर्बाध्यबाधकभावो भूपालयोरिव, नचैकस्य बाध्यबाधकभाव उपपद्यते। बाधापि तेन प्रतीयमानस्य–किं क्रियते, ज्ञाप्यते वा? यदि क्रियते; अव्यतिरिक्ता, व्यतिरिक्ता वा? यद्यव्यतिरिक्ता; तदा अव्यतिरिक्ता बाधा उत्पाद्यते। किमुक्तं भवेत्? उदकमुत्पाद्यते। तदुत्पादने च तत्संविदोऽमिथ्यात्वम्। अथ व्यतिरिक्तोत्पाद्यते; तथापि तोयसम्बन्धितयोपलब्धेरम्भस उपपत्तिर्न जातु देवदत्तस्याऽसत्त्वे तन्नयनव्यवहारसिद्धिः। अथ ज्ञाप्यते; तदा साऽव्यतिरिक्ता, व्यतिरिक्ता वा? यद्यव्यतिरिक्ता ज्ञाप्यते; तदा बाधा तेन ज्ञाप्यते। किमुक्तं भवति? उदकं ज्ञाप्यते। अथ व्यतिरिक्ता सती ज्ञाप्यते; तथाप्युदकस्येयं बाधेति अन्यतन्त्रतया प्रतिभासनात् नात्यन्ताभावोपपत्तिः। तस्मादर्थान्तरेणापि न बाधोपपत्तिः।

अथ ज्ञानेन बाध्यते; किं तद्विषयेण, अन्यविषयेण, निर्विषयेण वा? यदि तद्विषयेण; तदा तत् स्वरूपं विधत्ते न तु विपर्यासयति तदाकारपर्यवसितरूपत्वात्। अथ अन्यविषयं बाधकम्; तदपि न युज्यते, यद् यद्विषयं तत्तस्यैव सत्तां विधत्ते नत्वन्यस्य विधायकं प्रतिषेधकं वा। स्वविषयपर्यवसायिन्यो हि बुद्धयः।

अथ निर्विषयेण बाध्यते; न किञ्चिद् विदधाति प्रतिषेधति वा निर्विषयत्वादेव ।

अथ ज्ञानं बाध्यते; तस्यापि बाधा का ?– किं स्वरूपव्यावृत्तिरूपा, स्वरूपापह्नवरूपा वा, विषयापहारलक्षणा वा ? तद्यदि स्वरूपव्यावृत्तिरूपा बाधा, तदा सर्वं बाधितं स्यात् विज्ञानस्य विज्ञानान्तरेण निर्व(निव)र्त्यमानत्वात् । अथ स्वरूपापह्नवरूपं(पा); तदयुक्तम्; मिथ्योदकविज्ञानस्यापि अनुभूयमानत्वात् । अथ विषयापहारलक्षणा बाधा उच्यते; सापि न युक्ता । यथा च विषयापहारो न शक्यते कर्त्तुं तथाऽनन्तरमेव निवेदितम् ।

यदि न बाध्यते किमित्यसौ अर्थक्रियां न करोति भावः ? केयम् अर्थक्रिया या तेन न सम्पाद्यते पुंसाम्–किं विज्ञानरूपा, प्रवृत्तिरूपा, प्राप्तिरूपा, सुखदुःखोत्पादभोगरूपा वा ? तद्यदि विज्ञानलक्षणां न करोति; तदयुक्तम्; विज्ञानलक्षणामर्थक्रियां करोत्येव तोयम् । अथ प्रवृत्तिरूपां न करोति; तदयुक्तम्; प्रवृत्तिर्हि पुरुषेच्छानुविधायिनी नार्थस्वरूपभावाभावावनुगमयति । पुरुषो हि कामतः प्रवर्त्तते वा न वा, नह्येतावता तदभावसिद्धिः । अथ प्राप्तिरूपाम् अर्थक्रियां न करोति तेनाऽसत्त्वम्; तदप्ययुक्तम्; चन्द्रार्कग्रहनक्षत्रतारकादेः प्राप्त्यभावेऽपि सत्त्वसंभवात् । अथ सुखदुःखरूपामर्थक्रियां न करोति–किं दर्शनजं सुखं न करोति आहो देहसम्बन्धजम् ? तद्यदि दर्शनजं न करोति; तदयुक्तम्; करोत्येव । अथ देहसम्बन्धजं न करोति; तदा चन्द्रार्कग्रहनक्षत्रादौ व्यभिचारः तेषां देहसम्बन्धजसुखजनकत्वं नास्ति, अथ च सत्त्वम् । न च अर्थक्रियाऽकर्त्तृत्वेन वस्तूनामसत्त्वं स्वहेतोरेव विज्ञानजननमात्रस्योत्पत्तेः, सहकारिविरहाद्वा न करोति ।

किञ्च, अर्थक्रियां न करोति–किमेकस्य प्रतिपत्तुः, सर्वप्रतिपत्तॄणां वा ? तद्यदि एकस्य प्रतिपत्तुरर्थक्रियां न करोति

तेनाऽसत्त्वम्; तदा चन्द्रार्कग्रहनक्षत्रतारकादौ व्यभिचारः मुमूर्ष्वर्थे च । अथ सर्वप्रतिपत्तॄणा[३]मर्थक्रियां न करोति तेनाऽसत्त्वम्; एवं तर्हि सर्वभावानामसत्त्वप्रसङ्गः । नहि सर्वे भावाः सर्वपुरुषार्थहेतवः । न च सर्वपुरुषार्थक्रियाविहीनमेतद् इत्यवगन्तुं पार्यते अर्वाग्विदा । तस्मात् स्थितमेतद् अव्यभिचारिपदमनर्थकम् ।

[§ ७. भ्रमस्य स्मृतित्वं स्वीकुर्वतां प्राभाकराणां मतस्य विकल्प्य निरसनम् ।]

अन्ये तु मरीच्युदकविज्ञानस्य स्मृतित्वं प्रतिपद्यन्ते न भ्रान्तिरूपताम् । तस्य कथं स्मृतित्वम्–किमुदकगृहीतित्वेन, गृहीतोदकगृहीतित्वेन वा, उदकग्रहणानन्तरकालभावित्वेन वा, निर्विषयत्वेन वा, ‘ यमहमद्राक्षम् ’ इत्यनेनाऽऽकारेण उपजायमानत्वेन वा ?

तद्यदि उदकगृहीतित्वेन; तदा सर्वोदकविज्ञानानां स्मृतित्वप्रसङ्गः ।

अथ गृहीतोदकगृहीतित्वेन स्मृतित्वम्; तदाऽऽद्यस्यापि गृहीतोदकगृहीतित्वे स्मृतित्वं प्रसज्यते, गृहीतोदकग्राहित्वाविशेषात् । आद्यस्य गृहीतोदकग्राहित्वं नास्ति; तदानीं भिन्नविषयत्वम्, भिन्नविषयत्वे च द्वितीयस्यापि गृहीतग्राहित्वं विहीयते । अथ एकविषयत्वम्; आयातं तर्हि प्रथमस्यापि गृहीतग्राहित्वम्, अविशिष्टार्थगृहीतिरूपत्वात्, प्रथमोत्तरविज्ञानवत् । यथा एकनीलस्वलक्षणग्राहकयुगपदुत्पन्नानेकविज्ञानात् नीलज्ञानरूपता न भिद्यते तथेहापि । तथा, धारावाहिविज्ञानानां स्मृतिरूपता प्राप्नोति । तथा, प्रत्यभिज्ञानस्य च गृहीतग्राहित्वेन स्मृतित्वं प्रसज्यते । अथ प्रत्यभिज्ञानस्य गृहीतार्थग्राहित्वं न विद्यते; तदा प्रत्यभिज्ञानत्वं निवर्त्तते, नह्याद्यं दर्शनं ‘ स एवायम् ’ इत्युपजायते । तथा, आनुमानिकमपि विज्ञान(नं) गृहीतार्थग्राहित्वेन स्मृतित्वमापद्यते ।

३ त.

अथ उदकग्रहणोत्तरकालभावित्वेन स्मृतित्वम्; तदा संस्कारस्य स्मरणरूपता प्राप्नोति, उदकग्रहणोत्तरकालभावित्वेन, रससंवेदनस्य च।

अथ निर्विषयत्वेन स्मृतिरूपता उच्यते; तदयुक्तम्; पूर्वोदितानुभवावेदितार्थाकारावेदकत्वेन उदीयमानायाः कथं निर्विषयत्वम्? अथ पूर्वानुभूतार्थप्रत्ययस्तमये सति समानकालार्थाभावान्निर्विषयता; तदा चोदनाजनितविज्ञानस्य निर्विषयत्वेन स्मृतित्वमापनीपद्यते, कर्त्तव्यतारूपार्थस्य तदाऽभावात्। भावे वा कर्त्तव्यरूपता नोपपद्यते। तदनुपपत्तौ सप्ततन्तुक्रियाया विलोपप्रसङ्गः। यदि च निर्विषयत्वेन स्मृतित्वम्; तदा विद्यमानघट-जात्यादेः स्मरणस्यास्मृतित्वप्रसङ्गः।

अथ 'अद्राक्षम्' इत्यनेनाकारेणोपजायमानत्वेन स्मृतित्वम्; तदयुक्तम्; 'इहोदकम्' इत्यनेनाकारेणोपजायमानायाः कथम् 'अद्राक्षम्' इत्येवंरूपतोपपद्यते? अथ विप्रमुषि[त]ता अनया भङ्ग्या उपजायते।

[§ ८. प्रसङ्गात् विप्रमोषपरीक्षा।]

कोऽयं विप्रमोषो नाम? किमनुभवाकारस्वीकरणम्, स्मरणाकारप्रध्वंसो वा, अपूर्वार्थगृहीतित्वं वा, इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वं वा, इन्द्रियार्थाऽसन्निकर्षजत्वं वा? तद्यदि अनुभवाकारस्वीकरणम्; तदा स्मृतिरूपता नोपपद्यते। अथ स्मृतिरूपता; तदाऽनुभवाकारस्वीकरणं नोपपद्यते, स्मृत्यनुभवाकारयोः इतरेतरपरिहारस्थितिलक्षणत्वात्। अथ स्मरणाकारप्रध्वंसः; तदयुक्तम्; विज्ञानस्य स्वयं स्मृतित्वेनाभ्युपगमात्। प्रध्वंसो हि अविज्ञानात्मकः कथं स्मृतिरूपतां विधत्ते? अथ अपूर्वार्थविषयगृ(०र्थगृ)हीतित्वं स्मृतिप्रमोष उच्यते; तदा अत्यन्ताऽननुभूतकनकपनसादिसंवित्तीनां स्मृतिविप्रमोषत्वमापद्यते। अथ इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वं स्मृतिविप्रमोष उच्यते; तदा संवित्तीना(नां) स्मृतिविप्र-

मोषत्वप्रसङ्गः । अथ इन्द्रियासन्निकर्षजत्वं स्मृतिविप्रमोष उच्यते; तदा चोदनाजनितविज्ञानस्य अनुमानोपमानविज्ञानस्य च स्मृतिविप्रमोषत्वमापद्यते । तस्माद् यथा यथा विचार्यते स्मृतिविप्रमोषः तथा तथा न्यायं न विषहत इति । तस्मात् मरीच्युदकविज्ञानस्य न स्मृतिविप्रमोषरूपता अपि तु विपरीतख्यातित्वं सम्यग्ज्ञानत्वं वा ।

[§ ९. व्यवसायात्मकपदस्य समालोचनम् ।]

तथा, व्यवसायात्मकपदमपि नोपादेयमप्रमे(मपने)याभावात् । ननु स्थाण्वादिकेऽर्थे इन्द्रियार्थसन्निकर्षात् सामान्यमात्रदर्शनात् विशेषानुपलब्धौ सन्देहज्ञानमुपजायते तदपनीयते; तस्मिन् सन्देहज्ञाने जाते किंचित् प्रतिभाति आहो न प्रतिभाति ? तद्यदि प्रतिभाति; स किं धर्मी, धर्मो वा ? तद्यदि धर्मी प्रतिभाति; स तात्त्विकः, अतात्त्विको वा ? यदि तात्त्विकः; नापनेयता तद्विषयविज्ञानस्य। अथ अतात्त्विकः; तदा अव्यभिचारिपदेन अपनीतत्वात् न व्यवसायात्मकपदमुपादेयम् ।

अथ धर्मः प्रतिभाति; स स्थाणुत्वलक्षणः, पुरुषत्वलक्षणः, उभयं वा ? तद्यदि स्थाणुत्वलक्षणो धर्मः प्रतिभाति; स तात्त्विकोऽतात्त्विको वा ? यदि तात्त्विकः; कथं तद्बुद्धेः सन्देहरूपता, तात्त्विकार्थगृहीतिरूपत्वेन सत्योदकसंवेदनवत् ? अथ अतात्त्विकः; तदा अव्यभिचारिपदेन अपोदितत्वात् न व्यवसायात्मकपदमुपादेयम् । अथ पुरुषत्वलक्षणो धर्मः प्रतिभाति; असावपि तात्त्विकोऽतात्त्विको वा ? यदि तात्त्विकः; कथं तद्बुद्धेः सन्देहरूपता ? अथ अतात्त्विकः तदा अव्यभिचारिपदेन अपोदितत्वात् व्यवसायात्मकपदं न साधीयः ।

अथ उभयं प्रतिभाति; तदा उभयोस्तात्त्विकत्वम्, अतात्त्विकत्वं वा, अथ एकस्य तात्त्विकत्वम्, अन्यस्य अतात्त्विकत्वम् ? तद्यदि उभयोस्तात्त्विकत्वम्; तदा तद्विज्ञानस्य तात्त्विकत्वमेव, न

सन्देहात्मता। अथ उभावप्यतात्त्विकौ; तदा तद्विज्ञानस्य विपर्ययरूपता, न सन्देहात्मता। अथ एकस्य तात्त्विकत्वमन्यस्याऽतात्त्विकत्वम्; तदा तदेव ज्ञानं व्यभिचारि तदेवाऽव्यभिचारि-अतात्त्विकार्थगृहीतिरूपत्वाद् व्यभिचारि, तात्त्विकार्थगृहीतिरूपत्वादव्यभिचारि। एतेन द्विचन्द्रज्ञानमुद्घाटितम्। तत्र हि द्रव्याकारः प्रतिभाति न गुणाकारः।

अथ सन्दिग्धार्थाकारप्रतिभासि सन्देहज्ञानमिति चेत्; स सन्दिग्धोऽर्थो विद्यते वा न वा? तद्यदि विद्यते; कथं तत्संवेदनस्य सन्देहरूपता अबाधितार्थगृहीतिरूपत्वात् सत्योदकसंवेदनवत्? अथ न विद्यते; तदाऽव्यभिचारिपदेन अपोदितत्वात् व्यवसायात्मकपदमपार्थकम्।

अ[थ न किं]चिदपि प्रतिभाति; न तर्हि तस्य इन्द्रियार्थसन्निकर्षज[त्वम्], भ्रान्तोदकविज्ञानवत्। तस्माद् व्यवसायात्मकपदमपि अनुपादेयम्।

[§ १०. अव्यपदेश्यपदस्यालाघुत्वे लक्षणसारग्रन्थस्योल्लेखः।]

अव्यपदेश्यपदं च यथा न साधीयः तथा लक्षणसारे द्रष्टव्यम् ॥ छ ॥

[§ ११. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नपदस्य समीक्षा।]

तथा, इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वमपि नोपपद्यते तद्गत्यभावात्। इन्द्रियार्थसन्निकर्षो हि व्यवहितार्थानुपलब्धिलिङ्गो वा, आ[वरणलिङ्गो वा], तदुत्पादितघटादिज्ञानावसेयो वा? तद्यदि व्यवहितार्थानुपलब्धिलिङ्गः; तदयुक्तम्; तेन सह सम्बन्धाऽनुपपत्तेः, तदभावेप्यनुपलम्भसद्भावदर्शनात्। यदभावेऽपि यस्य सद्भावः स कथं तत्सद्भावावेदकः?

अथ आवरणलिङ्गः; तदयुक्तम्; तेन सह संमतिग(संग)तेरभावात्, तदभावेऽपि सद्भावदर्शनात्, तद्भावे वा आवरणानर्थज्य(क्य)म्। तदभावे तद्गतिः कथम्?

अथ तद्भवकुम्भादिज्ञानेन अवगम्यते; तदयुक्तम् ; तदनवगतौ तदुद्भवत्वस्यानवगतेः । पिशाचपरमाणुमहेश्वरकल्पोऽसौ सन्निकर्षः । कथं तदायत्तता वेद्यते ज्ञाने ? कथं च तद् इन्द्रियार्थसन्निकर्षमावेदयति ज्ञानम् – किं विज्ञानाकारतया, आहो कार्याकारतया, इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्याकारतया वा ?

तद्यदि ज्ञानस्वभावतया; तदयुक्तम् ; तदभावेऽपि ज्ञानाकारस्य संभव उपमानादिज्ञाने । अथ कार्यात्मितया गमयति; तदप्ययुक्तम् ; उपमानानुमानज्ञान-मरीचिनीलजलादौ तस्य सद्भावोपपत्तेः । यो येन विना भवति स कथं तस्य ज्ञापको नाम ? अन्यथा सत्त्वादेरपि गमकत्वं स्यात् ।

अथ इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्याकारतया संशू(सू)चयतीति चेत् ; असौ इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्याकारः ज्ञानाकाराद्व्यतिरिक्तः, व्यतिरिक्तो वा ? यद्यव्यतिरिक्तः ; तदा ज्ञानात्मतामात्रम्, नाऽऽकारातिरेकोऽन्योऽस्ति विभाव्यमानोऽनुमानादिज्ञानेषु यथा । आकारान्तरातिरेके वा ज्ञानरूपता हीयते । अथ व्यतिरिक्तः ; तस्यैव तर्हि गमकत्वं न ज्ञानाकारस्य । तस्याप्यगमकत्वं तदवेदनात् ।

किञ्च, तदुत्पन्नम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् विज्ञानं स्वरूपेणावगाहनीयम्, ततो व्याप्तिस्मरणम्, तदनु परामर्शज्ञानम्, ततोऽनुमेयावगतिरिति । न च एतावन्तं कालं विज्ञानं स्थितिपदं बध्नाति, आशुभावित्वेन प्रत्यस्तमितत्वात् । अथ बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिन्यायेन परिकल्प्यते अनुमानम् ; तदा अवास्तवं प्राप्नोति सुगतानुमानवत् ॥ छ ॥

[§ १२. इन्द्रियजन्यत्वस्य प्रत्यक्षेऽसंभवप्रकटनम् ।]

तथा, इन्द्रियोत्पाद्यत्वमपि नोपपद्यते, इन्द्रियोत्पाद्यत्वातिरेकानवगतेः । विज्ञानं स्वभावतयैव वेद्यते, नाकारान्तरेण, तज्ज्ञप्तौ वा ज्ञानाकारविरहप्रसङ्गः । नच ज्ञानम् इन्द्रियसम्बद्धं

दृष्टं येन तद् उपलभ्यमानम् इन्द्रियं गमयाति। अथ क्रिया अन्यत्र करणसाध्या दृष्टा। सैव गमिकाऽस्तु यस्याः करणसम्बन्धोऽवगतः। न चान्यस्य सम्बन्धे अन्यस्य गमकत्वं किञ्चित्साम्याद् उपपद्यते। न जातु देवदत्तनयननीलसम्बन्धे सति यज्ञदत्तेन्द्रियं घटादिकमर्थम् असति सम्बन्धे करणत्वसाम्यात् प्रकाशयद् दृष्टम्। तथा, अर्थजन्याकारोऽपि विज्ञाने अनेनैव प्रकारेण पर्युदस्तो वेदितव्यः।

[§ १३. अर्थस्यापि प्रत्यक्षजनकत्वखण्डनम्।]

तथा, अर्थोऽपि विज्ञानमुत्पादयति–अनुपजाताऽतिशयः, उपजातातिशयो वा, अव्यतिरिक्तोपजातातिशयो वा, व्यतिरिक्तोपजातातिशयो वा? तद्यदि अनुपजातातिशयः करोति; तदा सर्वदा कुर्यात् न वा करणम् अकरणं वा नोपवि(प)द्येत तत्स्वरूपानतिवृत्तेः। तथा, अव्यतिरिक्तोपजातातिशयोऽपि न करोति, अकारकाकारस्यानुगतेः। अननुगतौ वा न तर्हि तदव्यतिरिक्तोऽतिशयः। अथ व्यतिरिक्तोपजातातिशयेन जन्यते तथापि नो[पपद्य]ते, अकारकाकारानतिवृत्तेः। अतिवृत्तौ वा आयातं क्षणिकत्वम्। ततश्च नेन्द्रियार्थसन्निकर्षजं विज्ञानं प्रत्यक्षलक्षणम् ॥ छ ॥

[२. मीमांसकसंमतस्य प्रमाणलक्षणस्य परीक्षा।]

अन्ये तु अनधिगतार्थगन्तृत्वेन प्रमाणलक्षणमभिदधति। ते त्वयुक्तवादिनो द्रष्टव्याः। कथमयुक्तवादिता तेषामिति चेत्; उच्यते–विभिन्नकारकोत्पादितैकार्थविज्ञानानां यथाव्यवस्थितैकार्थगृहीतिरूपत्वाऽविशेषेऽपि पूर्वोत्पन्नविज्ञानस्य प्रामाण्यम् नोत्तरस्य इत्यत्र नियामकं वक्तव्यम्। अथ यथाव्यवस्थितार्थगृहीतिरूपत्वाविशेषेऽपि पूर्वोत्पन्नविज्ञानस्य प्रामाण्यमुपपद्यते न प्रथमोत्तरविज्ञानस्य; तदा अनेनैव न्यायेन प्रथमस्याप्यप्रामाण्यं प्रसक्तं गृहीतार्थग्राहित्वाऽविशेषात्। यथा एकनीलस्वलक्षणावभासितयुगपदुत्पन्नानेकनीलविज्ञानानां नीलैकार्थ-

गृहीतिरूपता न भिद्यते, तथा पूर्वापरोत्पन्नविज्ञानानामपि गृहीतार्थगृहीनिरूपता न निवर्त्स्यति।

अथा(थ) नियतविषयत्वं पूर्वोत्तरविज्ञानयोः—पूर्वोत्पन्नविज्ञानम् अनधिगतार्थाकारस्वीकरणमुखेन उपादीयते, उत्तरं तु अधिगतार्थाकारविषयमुपजायते। यदि गृहीतार्थविषयत्वम्; कथं प्रतिनियतविषयत्वम्? अथ प्रतिनियतविषयत्वम्; कथं गृहीतार्थग्राहित्वम्, नियतविषयत्वगृहीतग्राहित्वयोर्विरोधात्? यदि च नियतविषयत्वम्; तदा उभयोरपि प्रामाण्यम् अनधिगतार्थगन्तृत्वाऽविशेषात्। अथ एकविषयत्वम्; तदा उभयोरपि प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा गृहीतग्राहित्वाऽविशेषात्। सोऽयं गड्डुप्रवेशाक्षितारकविनिर्गमन्यायोपनिपातः श्रुतिलालसानां दुरुत्तरः।

नन्वधिगतविषयत्वे सत्यपि प्रामाण्याभ्युपगमे स्मृतेरपि प्रामाण्यमनुषज्यते, प्रमाणफलता वा। कोऽत्र निवारयिता? स्मृतिरिहोपजायमाना—आद्यानुभवावेदितार्थाकारविषया वा, अन्यविषया वा, निर्विषया वा? तद्यदि पूर्वोदितानुभवावेदितार्थाकारविषया; तदा तस्याः प्रमाणफलता नैव निवारयितुं पार्यते गृहीतार्थग्राहित्वाविशेषात् इत्युक्तम्। एवं च स्मृतिसञ्ज्ञकं सप्तमं प्रमाणं प्रसक्तं मीमांसकानाम्।

अथ पूर्वविज्ञानानवधारितार्थविषया; यद्येवं कथं तस्याः प्रमाणफलत्वमपनेतुं पार्यते? आद्यानुभवस्यै(स्ये)व स्मृतिरूपता च न प्राप्नोति। दृष्टश्रुतार्थविषया हि स्मृतिर्नागृहीतार्थविषया।

अथ निर्विषया इष्यते; तदा न गृहीतार्थग्राहित्वेन स्मृतेरप्रामाण्यम् अपि तु केशोण्डुकसंवेदनवन्निर्विषयत्वेन। अपि च,

यदि निर्विषया; तदा गृहीतार्थग्राहिणी कथम्? गृहीतार्थग्राहिणीति चेत्; 'निर्विषया' इति न वक्तव्यम्। नच निर्विषया–'मातरं पितरं शुश्रूषितवानहम्' 'सन्ति मे पंचभृत्याः' इति पूर्वानुभवावेदितार्थाकारपर्यवसायिन्यो हि स्मृतयः, स्मृतिज्ञानेन पूर्वानुभवावेदितार्थाकारस्य प्रतिभासनात्। अथ स्मृतिविज्ञानकाले पूर्वप्रबोधविषयीकृतार्थस्य प्रत्यस्तमितत्वान्न तद्विषयत्वम्। एवं च निर्विषयत्वेन स्मृतेरप्रामाण्यं न गृहीतार्थग्राहित्वेन इत्युक्तम्।

यदि च अवधारितार्थविषयं प्रमाणमप्रमाणमुपपाद्यते; तदाऽनुमानज्ञानस्य अप्रामाण्यमापनीपद्येत। तदेव कथम्? कथ्यते–यदेव अविनाभावसम्बन्धग्रहणकालावधारितम् अग्नित्वसामान्यं लिङ्गाजहद्वृत्तित्वेन प्रत्यक्षेण तदेव अनुमानादवगच्छति, आहोस्वित् पावकस्वरूपम्, मत्वर्थं वा, लिङ्गव्यापारसमानकालीनता(लीना)स्तित्वं वा, लिङ्गोपसर्जनत्वं वा, अग्निव्यक्तिपारतन्त्र्यं वा अग्नित्वसामान्यस्य? तद्यदि पूर्वावधारितसामान्यविषयमभ्युपेयते; तदा प्रामाण्यं नैव समासादयति गृहीतार्थग्राहित्वेन स्मृतिवदेव। तदप्रामाण्ये नाग्निमत्त्वव्यवस्थोपपत्तिः तदनुपपत्तौ वा अर्थापत्त्या अग्निव्यक्तिसंस्थितिः। ततश्च 'अमुत्राग्निः' 'अग्निरानीयताम्' इति सकललोकव्यवहारविरहः स्यात्। अथ मा भूदेतद्व्यवहारहानिरिति चेत्पूर्वावधारितेऽप्यर्थे अनुमानस्या(स्य) प्रामाण्यमभ्युपेयते; तदा अनधिगतार्थगन्तृविशेषणमपार्थकं श्रोत्रियाणामिति।

अथ पावकस्वरूपमनुमिमीषे; तत् लिङ्गाजहद्वृत्तित्वेन पूर्वमवधारितं वा, न वा? यदि पूर्वोपलब्धम्; अधिगतार्थविषयत्वमायातमनुमानस्य। अथ न पूर्वोपलब्धम्; अव्यापकोऽग्निः अनुमानात्तर्हि प्रतीयते, तदभ्युपगमे तृणजलादिविषयमप्यनुमानं प्रसज्यते।

अथ मत्वर्थोऽनुमीयते; स पूर्वावधारितो वा, न वा? यद्यवधारितः; कथमनधिगतार्थगन्तृविशेषणमनुमाने संभवति ? अथ नैवावगतः ; तदानीं जलतृणादिविषयमप्यनुमानं प्रसज्येत इत्युक्तम् ।

अथ लिङ्गव्यापारसमानकालीनास्तित्वम् अग्निसामान्यस्य अनुमीयते ; तदनुमानव्यापारसमानकालीनास्तित्वम् अग्नित्वसामान्याद् व्यतिरिक्तम्, अव्यतिरिक्तं वा? तद्यदि अव्यतिरिक्तम्; तदानीं पूर्वोपलब्धास्तित्वविषयमेवानुमानम्, कथमनधिगतार्थगन्तृविशेषणमपार्थकं न भवेत् ? अथ व्यतिरिक्तम्; तत्किं पूर्वोपलब्धम्, अनुपलब्धं वा? यदि पूर्वोपलब्धम्; तद्विषयत्वेऽनुमानस्य नाऽनधिगतार्थगन्तृविशेषणमुपपद्यते । अथ नोपलब्धम्; तत्कथमनुमीयते जलादिकल्पं धूमेन ?

अथ लिङ्गोपसर्जनत्वमग्नित्वसामान्यस्य अनुमानात् प्रतीयते; तल्लिङ्गोपसर्जनत्वम् अग्नित्वसामान्याद् भिन्नम्, अभिन्नं वा? यद्यभिन्नम्; पूर्वोपलब्धाऽग्नित्वसामान्यविषयमेव अनुमानं कथं प्रामाण्यभाग् भवति ? अथ भिन्नम्; तद् अविनाभाविसम्बन्धग्रहणकाले लिङ्गव्यापकत्वेन अवधारितं वा, न वा? यद्यवधारितम्; कथमनधिगतार्थविषयमनुमानम् ? अथ लिङ्गव्यापकत्वेना[न]वगतम्; तदा तद्विषयत्वेऽनुमानस्य परिकल्प्यमाने त्रिभुवनावेदकत्वं धूमस्य किन्न परिकल्प्यते, सम्बन्धाभावाऽविशेषात् ?

अथ अग्निव्यक्तिपारतन्त्र्यमनुमीयते धूमेन अग्नित्वसामान्यस्य इति चेत्; तत्पारतन्त्र्यम् अग्नित्वसामान्यस्य धूमव्यापकत्वेन अवधारितं वा, न वा? यद्यवधारितम्; पुनरपि गृहीतग्राहित्वं नातिवर्त्ततेऽनुमानम्। अथ नावधारितं धूमव्यापकत्वेन पारतन्त्र्यम् अग्निसामान्यस्य इति चेत्; कथमनुमीयते इत्युक्तं पुरस्तात् ।

[§ १. गोत्वादिप्रतिपादकत्वेन गोशब्दादीनामप्रामाण्योद्घाटनम् ।]

एतेन पूर्वोपलब्धगोत्वादिप्रतिपादकत्वेन गोशब्दादेरप्रामाण्यमुद्घाटितम्। तदेव कथम्? कथ्यते–किं संकेतग्रहणकालावगतगोत्वार्थवाचकत्वम्, तद्व्यतिरिक्तार्थवाचकत्वं वा प्रतिपाद्यते गोशब्दस्य? तद्यदि संकेतग्रहणकालाधिकरणगोत्वस्वरूपावेदकत्वं जेगीयते गोशब्दस्य; तदा विदितार्थाकारावेदकत्वेन न मानत्वमासादयति गोशब्दः। अथ वेदितार्थाकारावेदकत्वेऽपि प्रामाण्यमावहति; तदा अनधिगतार्थगन्तृविशेषणस्य विषयो वक्तव्यः। अथ तद्व्यतिरिक्तार्थवाचकत्वम्; तदानीमसंकेत(ति)त एवार्थः प्रतीयते गोशब्दात्, ततश्च स्वसिद्धान्तप्रतीतिविरोधो दुर्निवारः। अथ गोत्वमेवाऽवगम्यते गोशब्देन इति चेत्; तत्रापि प्रपञ्चितमेव अप्रामाण्यकारण(णं) गृहीतग्राहित्वम्। तदप्रामाण्ये न गोत्वव्यवस्थितिः। तदनवस्थितौ नार्थापत्त्याधिकरणव्यवस्थितिः।

[§ २. अर्थापत्तेरधिकरणव्यवस्थित्युपपादकत्वस्य निषेधः ।]

इतोऽपि नार्थापत्त्याधिकरणव्यवस्थितिरुपपद्यते–किम् अर्थापत्त्या पूर्वावधारिताधिकरणप्रत्यायनं क्रियते, आहोस्वित् अपूर्वाधिकरणप्रत्यायनम्? तद्यदि पूर्वावधारिताधिकरणपर्यवसिताऽर्थापत्तिः; तदा प्रतिपादितार्थप्रतिपादकत्वेन न प्रमाणम्। अथ अदृष्टपिण्डावेदकत्वम्; तदा गोत्वान्यथानुपपत्त्या गजवाजिकल्पनापि कार्या। अथ पूर्वावधारितस्य इदानीन्तनमस्तित्वम् अर्थापत्त्याऽवसीयते इति चेत्; तत् इदानीन्तनमस्तित्वं पूर्वावधारिताद् व्यतिरिक्तम्, अव्यतिरिक्तं वा? तद्यदि अव्यतिरिक्तम्; तदा पूर्वावधारितार्थप्रतिपादकत्वेन कथम् अर्थापत्तेः प्रामाण्यं वेदविदो वदन्ति? अथ अर्थान्तरम्; कथं गोत्वान्यथानुपपत्त्या प्रतीयते? तत्प्रतीत्यभ्युपगमे वा गजवाजिविषयापि प्रतिपत्तिः स्यात् इत्यसकृत् प्रतिपादितम्। एवं च सति यदुक्तम्–

"इदानीन्तनमस्तित्वं नहि पूर्वधिया गतम् ।"

[श्लोकवा० सूत्र ४, श्लोक २३४] इति तद् बालवल्गितम् ।

[§ ३. प्रत्यभिज्ञानप्रामाण्यखण्डनस्य सूचनम् ।]

एतेन प्रत्यभिज्ञानस्यापि प्रामाण्यं प्रत्युक्तं वेदितव्यम् ॥छ॥

[३. ताथागतसंमतस्य प्रमाणलक्षणस्य परीक्षा ।]

[§ १. अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वेतिविशेषणस्यापार्थकत्वप्रदर्शनम् ।]

तथा, ताथागतानामपि अनधिगतार्थगन्तृविशेषणमपार्थकम् अपोह्यज्ञानाऽसंभवात् । नहि पूर्वापरकालभाविनी विज्ञाने एकविषये स्तः, न स्वलक्षणैकविषये, न सामान्यैकविषये, स्वलक्षणस्य अभिन्नैकस्वभावस्य क्रमवृत्त्यनेकविज्ञानजननशक्तिव्यतिरेकात् ।

अथ युगपदेकविषयोत्पन्नाऽनेकविज्ञानापनोदार्थम्; तदप्ययुक्तम्; एकविषयोत्पन्नानेकपुरुषसंवेदनस्य अप्रामाण्यमापनीपद्येत । अथ सामान्यैकविषयानेकविज्ञानापनोदार्थं विशेषणमुपादीयते; तदप्ययुक्तम्; न सामान्ये एकं विज्ञानमस्ति, नाप्यनेकं विज्ञानं तस्य स्वयमसंभवात् । तदाकारविरहे 'सामान्यविषयं विज्ञानम्' इति प्रतिकर्मव्यवस्थाहेतुर्वक्तव्यः । तदाकारे वा सामान्यस्य सदात्मता, अतात्त्विकाकारतादात्म्ये वा ज्ञानातात्त्विकत्वप्रसङ्गः ।

किंच, एकविषये प्रवर्त्तमानयोः एकस्याऽप्रामाण्यम्, प्रमाणान्तरत्वाभावो वा ? तद्यदि अप्रामाण्यम्; तदयुक्तम्; अविशिष्टैकार्थगृहीतिरूपत्वे उभयोः प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा विकल्पानुपपत्तेः, विकल्पे बाधकविषयोत्पन्नाऽनेकपुरुषविज्ञानभेदप्रसङ्गः । अथाऽप्रमाणान्तरत्वम्; तदप्यनुपपन्नम्; किम् एकविषयोत्पादितानेकप्रत्यक्षादिज्ञानानां व्यक्तिनानात्वं नोपपद्यते, आहो आकारनानात्वम् ? तद्यदि व्यक्तिनानात्वं न जाघ-

टीति; तदसत्; एकनीलोत्पादितानेकनीलालोकविज्ञानानां व्यक्तिनानात्वदर्शनात्। अथ अनेकाकारता नोपपद्यते; तदयुक्तम्; नीलालोकविज्ञानानाम् अनेकाकारकत्वदर्शनात्। नच तदुत्पादको नीलप्रपञ्चोस्ति, एकात्मतया स्वयमनुपगमात्। अथ एकविषयत्वे प्रत्यक्षानुमानव्यपदेशानुपपत्ति; तदेतदयुक्तम्; भिन्नकारणकार्यत्वेन व्यपदेश्योप(देशोप)पत्तेः। यथा एकनीलोत्पन्नानेकदेवदत्तज्ञानानां भिन्नकारणकार्यत्वेन [देवदत्तविज्ञानानां] भिन्नकर्त्तृकार्यत्वेन देवदत्तादिज्ञानव्यपदेशः तथेहापि ॥छ॥

[§ २. अविसंवादि ज्ञानमित्यस्य प्रमाणलक्षणस्यापि निरासः।]

अन्ये तु "अविसंवादि ज्ञानम्" [प्रमाणवा० २.१] प्रमाणमभिदधति। कोऽयमविसंवादार्थः – किं यथाव्यवस्थितार्थगृहीतित्वम्, बाधारहितत्वं वा, प्रतीयमानार्थजन्यता वा, प्रतीयमानार्थं प्रति प्रवर्त्तकत्वं वा, अर्थप्रापकत्वं वा? तद्यदि यथाव्यवस्थितार्थगृहीतित्वम्; तदाऽनुमानज्ञानं(ने) नोपपद्यते। अथ बाधारहितत्वम्; तदप्यनुमानज्ञाने नोपपद्यते। अथ प्रतीयमानार्थोत्पाद्यत्वम्; तदप्यनुमानज्ञानस्य नोपपद्यते, सामान्याकारस्य जनकत्वव्यावृत्तेः। तथा, रागादिसंवेदनस्याप्यवभातार्थोत्पाद्यत्वं नोपपद्यते, स्वात्मोत्पादने सामर्थ्यव्यतिरेकात्। तथा, योगिप्रत्यक्षस्य च प्रतीयमानार्थजन्यता न संभवति व्यतीताऽनागतयोरजनकत्वात्, जनकत्वे वा अतीताऽनागतता हीयते। अथ प्रतीयमानार्थं प्रति प्रवर्त्तकत्वमविसंवादार्थः; तदु विपर्ययज्ञानस्यापि प्रवर्त्तकत्वं विद्यते। विपरीतोत्पन्नोदकबुद्धिः प्रवर्त्तते, न च तस्य अविसंवादोऽस्ति। सत्योदकज्ञानेऽपि जाते न प्रवर्त्तते केनापि हेतुना, तदपि विसंवादि स्यात्।

---

१. कोष्ठकगतः पाठो निरर्थको भाति।

अथ अर्थप्रापकत्वमविसंवादः; तत्र किम्-अर्थमात्रप्रापकत्वम्, आहो अवभातार्थप्रापकत्वम्, तज्जातीयोदकप्रापकत्वं वा, स्वोत्पादकाऽर्थप्रापकत्वं वा, अथ स्वोत्पादककारकाणां ध्रुवभावित्वमविसंवादः ? यद्यर्थमात्रप्रापकत्वम्; केशोण्डुकेन्दुद्वयसंवेदनस्यापि अविसंवादित्वमापद्यते । अथ अवभातार्थप्रापकत्वम्; तदा अनुमानज्ञानस्य अविसंवादित्वं न लभ्यते अवभातार्थाऽप्रापकत्वात् । अनुमानज्ञाने हि सामान्याकारोऽवभाति, न चासौ प्राप्यते स्वयमसत्त्वात् । तथा, योगिज्ञानस्य अतीतानागतार्थे समुत्पन्नस्य अर्थप्रापकत्वं न विद्यते । तथा, रागादिसंवेदनेऽपि जाते न अवभातरागादिप्राप्तिरस्ति । तथा, प्रत्यक्षेऽपि विज्ञाने नाऽवभातार्थप्राप्तिरस्ति, क्षणिकत्वेन अस्तमितत्वात् । अथ तज्जातीयोदकप्रापकत्वेन अविसंवादित्वमुच्यते; तदयुक्तम्; उदकत्वजातेरभावात् ।

अथ अनुदकत्वव्यावृत्तिर्जातिरित्युच्यते; सा उदकव्यक्तिभ्योऽव्यतिरिक्ता, व्यतिरिक्ता वा? यद्यव्यतिरिक्ता; तदा व्यक्तिरेव न जातिः । अथ व्यतिरिक्ता; सा वस्तुभूता, अवस्तुभूता वा ? यदि वस्तुभूता; अभ्युपेतहानिः । अथ अवस्तुभूता; तद्गतिः कथम् ? न च उदकव्यक्तीनां नानात्वमुपपद्यते । यथा च नोपपद्यते तथा निवेदितं नैयायिकप्रत्यक्षलक्षणाधिकारे ।

अथ स्वोत्पादकार्थप्रापकत्वमविसंवादकत्वम्; तदयुक्तम्; नयनालोकमनस्कारादेः प्रत्यस्तमितत्वात् । अथ स्वोत्पादककारकाणां ध्रुवभावित्वम् अविसंवादस्तदभावे तदभावप्रसङ्गात्; यद्येवं केशोण्डुकविज्ञानस्यापि ध्रुवभाविकारणाविसंवादोऽस्ति, अन्यथा आकस्मिकत्वप्रसङ्गात् । एवं चाव्यवस्थिते यदुक्तम्-" न ह्याभ्यामर्थं परिच्छिद्य प्रवर्त्तमानोऽर्थक्रियायां विसंवाद्यते " इति तद्बालविलसितम् ।

[§ ३. सौगतसंमताया मानमेयसंख्याया निरसनम् ।]

तथा, मानमेयसंख्यापि सौगतमते नोपपद्यते । तदेव कथम् ? कथ्यते—द्वे एव प्रमाणे न मानान्तरमस्ति । तद्द्वित्वं किं व्यक्तिभेदेन, आकारभेदेन, विषयभेदेन वा ? यदि व्यक्तिभेदेन; तदा अपरिसंख्येयत्वं ज्ञानव्यक्तीनामानन्त्याद् – द्वित्वानुपपत्तिः । न च ज्ञानानां भेदोऽस्ति; अज्ञानाद्धि(द्धि) ज्ञानं ज्ञानात्मतया भिद्यते, ज्ञानान्तरात्तु कथं निवर्त्तते—किं ज्ञानात्मतया, आकारान्तरेण वा ? यदि ज्ञानाकारतया भिद्यते; तदा अन्येषाम् अज्ञानात्मकत्वप्रसङ्गः रसादेरिव । अथ आकारान्तरेण व्यावर्त्तते; तदा अज्ञानात्मता तस्य उत्पद्यते रसादेरिव । अथ आकारभेदे ज्ञानयोर्भेदः; सोऽप्यनुपपन्न एव; ज्ञानाकारव्यतिरेकेण प्रत्यक्षानुमानयोर्नाकारान्तरमस्ति । तदुपगमे वा ज्ञानाकारविरहः स्यात् । न च आकारसमूहात्मकं ज्ञानम्, तस्याभिन्नात्मकत्वात् ।

अथ विषयभेदेन द्वैविध्यमुपपाद्यते; तदाऽनुमानज्ञानस्य विषयार्थो वक्तव्यः – किम् अग्न्यादिस्वलक्षणविषयम्, विद्यमानसामान्यविषयम्, अपारमार्थिकसामान्यविषयं वा, निर्विषयं वा, स्वांशविषयं वा ? यदि अग्न्यादिस्वलक्षणविषयम्; तदा प्रत्यक्षानुमानयोः भेदानुपपत्तिः, अभिन्नविषयत्वात् । अथ आनुमानिके ज्ञाने अग्निमात्रं प्रतीयते, प्रत्यक्षे तु तार्णादिविशेषात्मतया प्रतीयते; यद्येवं स्वलक्षणविषयत्वं नातिवर्त्तते अनुमानस्य यदि नाम वह्नेरेव प्रपञ्चता । अथ सत्सामान्यविषयत्वम् तथापि प्रत्यक्षानुमानयोर्न भेदोऽस्ति, सामान्यस्य स्वलक्षणरूपत्वात् । न च सत्सामान्यस्य विज्ञानविषयतोपपद्यते, नित्यत्वेन जनकत्वाकारार्पकत्वानुपपत्तेः । न च सत्सामान्यविषयत्वे भ्रान्ततोपपद्यते । " भ्रान्तिरप्यर्थसम्बन्धतः प्रमा "

इति न वक्तव्यम् । अथ असत्सामान्यविषयम्; न तर्हि तस्य भ्रान्तता असतः स्वेन रूपेण विद्यमानत्वात् । न च असद् विषयभावं प्रतिपद्यते, जनकत्वाऽऽकारार्पकत्वव्यतिरेकात् । अव्यतिरेके वा वस्तुत्वप्रसङ्गः, तत्प्रसक्तौ च प्रत्यक्षानुमानयोर्भेदानुपपत्तिः ।

अथ निर्विषयम्; न तर्हि मानयोर्भेदोऽस्ति, अनुमानज्ञानस्य विषयाऽसंभवात् । नापि भ्रान्तता निर्विषयत्वादेव । न च ज्ञानस्य स्वसत्तामात्रेण भ्रान्तता अभ्रान्तता च उपपद्यते, किन्तु परोपधानवशात् । अथ स्वांशविषयम्; तथापि प्रत्यक्षानुमानयोर्न नानात्वम् उभयोः स्वलक्षणविषयत्वात् । न चानुमानज्ञानस्य भ्रान्तता स्वांशस्याऽवञ्चनात् ।

तथा प्रत्यक्षस्यापि विषयो वक्तव्यः – किं रूपादिस्वलक्षणविषयम्, आत्मविषयम्, उभयविषयं वा ? तद्यदि रूपादिमात्रालोचकम्; तदयुक्तम्; तदनवगतौ एतद्ग्रह्यभावात् । अथ ज्ञानमात्रकायावगाहकम्; तदपि नोपपद्यते, विषयभावस्य जनकत्वा-ऽऽकारार्पकत्वेन व्यवस्थितेः । न च स्वात्मनि जनकत्वमाकारार्पकत्वं चोपपद्यते–विषयिणमपेक्ष्य विषयो भवति, यथा कारणमपेक्ष्य कार्यं, कार्यं चापेक्ष्य कारणं तथेहापि । यदि च प्रत्यक्षज्ञानेन आत्ममात्रम् आत्मसात् क्रियते; तदाऽनुमानेप्येतदस्ति प्रत्यक्षानुमानयोर्भेदानुपपत्तिः । अथ उभयं विषयीक्रियते; तदप्ययुक्तम्; एकोपलम्भस्य द्वितीयाकारपरिहारेण व्यवस्थितत्वात् । यदि च रूपगृहीतिरेव ज्ञानगृहीतिः; तदा रूपस्य ज्ञानरूपता, ज्ञानस्य वा रूपरूपता, रूपगृहीतेर्वा रूपाऽव्यवस्थापकत्वम् । न च एकस्य आकारद्वयं पश्यामः ।

न च द्वित्वावधारणा(ण)मिहोपपद्यते । प्रत्यक्षं ज्ञानम् आत्मानं गृह्णदुपजायते नानुमानं विषययति । तथा, अनुमानमपि आत्मानमात्मसात्कुर्वदुपजायते, न प्रत्यक्षं ज्ञानमव-

द्योतयति। एवं द्वित्वसंख्याव्यवहारानुपपत्तिः। अथ विकल्पेन द्वयावधारणमिति चेत्; तदयुक्तम्; असावपि आत्मसंवेदनपर्यवसितत्वान्न द्वयं गृह्णाति। ग्रहणे वा अभ्युपेतहानम्। तदनुपपत्तौ च द्वे एवेति जडचेष्टितम् ॥छ॥

[४. सौगतसंमतस्य प्रत्यक्षलक्षणस्य परीक्षा।]

तथा, "प्रत्यक्षं कल्पनाऽपोढमभ्रान्तम्" [न्यायवि. १.४] इति न वक्तव्यम्, कल्पनापोढपदस्य अपोह्यार्थासंभवात्। ननु कल्पनैव अपोह्या; केयं कल्पना–किं गुणचलनजात्यादिविशेषणोत्पादितं विज्ञानं कल्पना, आहो स्मृत्युत्पादकं विज्ञानं कल्पना, स्मृतिरूपं वा, स्मृत्युत्पाद्यं वा, अभिलापसंसर्गनिर्भासो वा, अभिलापवती प्रतीतिर्वा कल्पना, अस्पष्टाकारा वा, अतात्त्विकार्थगृहीतिरूपा वा, स्वयं वाऽतात्त्विकी, त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदृग्वा, अतीताऽनागतार्थनिर्भासा वा?

तद्यदि गुणचलनजात्यादिविशेषणोत्पादितं विज्ञानं कल्पना; तत्किम् अविद्यमानगुणचलनजात्यादिविशेषणोत्पाद्यत्वेन कल्पना, उत विद्यमानोत्पाद्यत्वेन? तद्यदि अविद्यमानगुणचलनजात्यादिविशेषणोत्पाद्यत्वेन कल्पनात्वम्; तदयुक्तम्; अविद्यमानस्य जनकत्वाभावादेव अकल्पनात्वम्। अथ विद्यमानगुणचलनजात्यादिविशेषणोत्पाद्यत्वेन कल्पना; तत्किं सविषयं कल्पनाज्ञानम्, निर्विषयं वा? तद्यदि सविषयं सत् कल्पनाज्ञानम्; तदयुक्तम्; गुणचलनजात्यादिजन्यत्वेऽपि न कल्पनात्वम् अर्थसामर्थ्यसमुद्भवत्वस्याऽनतिवृत्तेः। अथ निर्विषयं सत् कल्पना; तदा निर्विषयत्वमेव कल्पनात्वे कारणं न गुणचलनजात्यादिविशेषणजन्यत्वम्। यदि च तन्निर्विषयम्; तदा न कल्पनाज्ञानम्, नाप्यकल्पनाज्ञानम्, ज्ञानमात्रता स्यात्। ज्ञानात्मतया च कल्पनात्वे सर्वं ज्ञानं कल्पनाज्ञानं स्यात्।

अथ स्मृत्युत्पादकं ज्ञानं कल्पना; तदयुक्तम्; रूपादिदर्शनादपि स्मृतिरुत्पद्यते, न च कल्पनात्वम्। "यत्सन्निधाने यो दृष्टः तद्दृष्टेस्ततौ(०तद्भुवौ)[1] स्मृतिः" इति वचनात्।

अथ स्मृतिरूपत्वेन कल्पना; तत्रापि किं गृहीतग्राहित्वेन, निर्विषयत्वेन, अपूर्वार्थगृहीतिरूपत्वेन वा? तद्यदि गृहीतार्थग्राहित्वेन कल्पनात्वम्; तदा प्रथमानुभवस्यापि कल्पनात्वमापद्यते गृहीतार्थग्राहित्वाविशेषात् इत्युक्तं पुरस्तात्। अथ निर्विषयत्वेन; तदा न कल्पनाकारता नाप्यकल्पनाकारता ज्ञानाकारव्यतिरेकेण।

अथापूर्वार्थगृहीतित्वेन कल्पनात्वम्; तदयुक्तम्; न स्मृतेरपूर्वार्थगृहीतित्वमस्ति तदभावान्न कल्पनात्वम्। यदि च अपूर्वार्थगृहीतित्वेन कल्पनात्वम्; रूपादिज्ञानानां कल्पनात्वमापद्यते।

अथ स्मृत्युत्पाद्यत्वेन कल्पनात्वम्; तदा रूपादिज्ञानस्यापि निर्विकल्पकत्वेनाभिमतस्य स्मृत्युत्पाद्यत्वमस्ति, तदस्तु कल्पनाज्ञानम्। अथ न भवति तत् कल्पनाज्ञानं स्मृत्या बोधस्वभावतयोत्पादितं कल्पनाज्ञानं न स्मरणाकारतयोत्पाद्यते; तदिदं मद्विकल्पान्दोलितबुद्धेः निरुपपत्तिकाऽभिधानम्। न ह्येकस्य स्वभावद्वयमुत्पश्यामः।

अथ अभिलापसंसर्गप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना; स संसर्गः पारमार्थिकः, अपारमार्थिको वा? यदि पारमार्थिकः; न तदा तस्य कल्पनात्वं रूपादिज्ञानस्येव। अथ अपारमार्थिकः; कथं तदाभं विज्ञानम्, नैरात्म्यप्रसङ्गात्। न चाऽतात्त्विके विषयार्थः कश्चिल्लभ्यते, जनकत्वा-ऽऽकारार्पकत्व-सहोत्पादसत्तामात्रव्यतिरेकात्। यदि च अतात्त्विकार्थगृहीतिरूपम्;

[1] सन्मति० पृ० ५२३।

५ त.

तदा विपर्ययज्ञानम्। तच्च अव्यभिचारिपदेन अपोदितम्, न कल्पनापोढपदमुपादेयम्।

अथ अभिलापवती प्रतीतिः कल्पना किम्–अभिलापात्मिका, आहो अभिलापोत्पाद्या, अभिलापगृहीतिर्वा ? तद्यदि अभिलापात्मिका; प्रतीतिः कथम् ? प्रतीतिश्चेत्; ‘अभिलापात्मिका’ इति न वक्तव्यम्। विरुद्धाकारयोस्तादात्म्यव्यतिरेकात्। अथ अभिलापोत्पाद्या; तदा शब्दज्ञानानां कल्पनात्वमापद्यते। तेषां च कल्पनात्वे शब्दव्यवस्थाऽनुपपत्तिः स्यात्। अभिलापगृहीतित्वेन कल्पनात्वम्; तदा सर्वासाम् अभिलापगृहीतीनाम् कल्पनात्वमापद्यते, तत्कल्पनात्वे शब्दव्यवस्थानुपपत्तिः।

[§ १. प्रसङ्गायाताया अस्पष्टताया विकल्प्य दूषणम्।]

अथ अस्पष्टाकारा प्रतीतिः कल्पना; अस्पष्टता का ? किम् अविज्ञानात्मकत्वम्, आहो स्वलक्षणाजन्यत्वम्, अथ प्रतीयमानार्थाजन्यत्वम्, प्रतीयमानासत्यता वा, स्वलक्षणाप्रतिभासिता वा ? तद्यदि अविज्ञानात्मकत्वमस्पष्टता; तदयुक्तम्; प्रतीतिरिह अस्पष्टाकारा गीयते, सा कथं विज्ञानात्मिका भवितुमर्हति ? अथ स्वलक्षणाजन्यता अस्पष्टता; तदा ज्ञानाकस्मिकत्वप्रसङ्गः। अथ प्रतीयमानार्थाजन्यत्वम्; तदा रागादिसंवेदनस्य अस्पष्टता प्राप्नोति, रागादीनां स्वात्मसंवेदनोत्पादकत्वाऽयोगात्, स्वात्मोत्पादकत्वं वस्तूनां न दृष्टपूर्वम्। तथा केशोण्डुकविज्ञानस्या(स्य) प्रतीयमानकेशोण्डुकोत्पाद्यत्वं न विद्यते, तदप्य(पि) स्पष्टाभमुपजायते न तु अस्पष्टाभम्, “न विकल्पानुबद्धस्य स्पष्टार्थप्रतिभासिता” [प्रमाणवा० ३.२८३] इति वचनात्।

अथ स्वलक्षणाप्रतिभासित्वमस्पष्टता; तदा निर्विकल्पाभिमतकेशोण्डुकविज्ञानस्य अस्पष्टता प्राप्नोति, तत्र स्वल-

क्षणस्याप्रतिभासनात् स्पष्टाभं च तद्गीयते। न च ताथागते दर्शने तथाभूतं ज्ञानमस्ति यत् स्वलक्षणाप्रतिभासि, सर्वस्मिन् ज्ञाने ज्ञानकार्यप्रतिभासनात्।

अथ प्रतीयमाना सत्यता अस्पष्टता; तदा केशोण्डुकेन्दुद्वयविज्ञानस्य अस्पष्टता प्राप्नोति। न च प्रतीयमानस्यासत्यता, विज्ञानकार्यस्य प्रतीयमानत्वात्। न च तस्य विसंवादोऽस्ति।

अथ अतात्त्विकार्थगृहीतिरूपा कल्पना; तदा केशोण्डुकविज्ञानस्यापि कल्पनात्वमापद्यते। अथ स्वयमतात्त्विकी; तदा प्रतीतिः कथम्? प्रतीतिश्चेद्; अतात्त्विकी कथम्?।

अथ त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदृक् कल्पना इति चेत्; सापि किं लिङ्गजन्यत्वेन कल्पना, आहो निर्विषयत्वेन? तद्यदि लिङ्गजन्यत्वेन कल्पनात्वम्; तदा लिङ्गावगाहकनिर्विकल्पकविज्ञानस्यापि कल्पनात्वमापद्यते। न च अनुमेयज्ञानस्याव्यवधानेन लिङ्गोत्पाद्यत्वमस्ति।

अथ निर्विषयत्वेन कल्पनात्वम्; तदपि न योयुज्यते; स्वांशविषयत्वादनुमानज्ञानस्य। अथ स्वांशविषयव्यतिरिक्तविषयो नास्ति, निर्विषयत्वेन कल्पनात्वमपदिश्यते; तदा केशोण्डुकविज्ञानस्यापि कल्पनात्वमापद्यते।

अथ यत् निर्विकल्पकं तत् विस्पष्टतयोपजायते। आनुमानिकं तु अस्पष्टाभं तेन तत् कल्पनाज्ञानम्; तदयुक्तम्; अस्पष्टता च यथा न संभवति तथा प्रागेवोक्ता।

[§ २. प्रसङ्गायातायाः प्रत्यक्षीयस्पष्टताया विकल्प्य विडम्बनम्।]

प्रत्यक्षज्ञानस्य च स्पष्टता का? किं स्वलक्षणजन्यता, आहो स्वलक्षणप्रतिभासिता? तद्यदि स्वलक्षणजन्यता; किं प्रतीयमानस्वलक्षणजन्यता, तद्विपरीतस्वलक्षणजन्यता वा?।

१. -कार्य-परि०।

तद्यदि प्रतीत्यारूढस्वलक्षणजन्यता; प्रतीतौ किमवभाति–किमर्थः, ज्ञानम्, उभयं वा? तद्यदि अर्थः; तदयुक्तम्; अप्रतीतायां प्रतीतौ तदनवभासनात्। अथ ज्ञानम्; न तर्हि तद् आत्मानमुत्पादयति, स्वात्मनि क्रियाव्यतिरेकात्। अथ उभयं प्रतिभाति; तदयुक्तम्; एकोपलम्भस्य द्वितीयाकारपरिहारस्थितिधर्मत्वात्। यदि चोभयं प्रतिभाति; तदा अर्थवत् ज्ञानेनापि ज्ञानमुत्पाद्यते इत्यापद्यते। तच्चायुक्तम्, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्।

अथ अप्रतीयमानस्वलक्षणजन्यता; व(त)द्गतिः कथम्? न प्रत्यक्षेण; अप्रतीयमानत्वादेव। नाप्यनुमानेन, स्वभाव-कार्यलिङ्गानवगतेः। न स्वभावानुमानं तत्कार्यतादात्म्ये, तदनवगतौ तस्याऽनवगतेः। नापि कार्यानुमानम्; तद्भूतकार्यानुपलब्धेः, पिशाचपरमाणुमहेश्वरकल्पार्थोत्पादितं कार्यं नेहोपलभ्यते। अथ ज्ञानमेव तस्य लिङ्गम्; तदयुक्तम्; तेन सह तस्य सम्बन्धानवगतेश्छिन्नमात्रतयैव न त्वन्योऽर्थः, न च चित् आत्मानं जनयति। समनन्तरज्ञानं तस्य हेतुः इति चेत्; तदयुक्तम्; तदवगतौ न मानमस्ति, परसन्तानज्ञानार्थकल्पं तदपि न स्वसंवेद्यं तत्कार्यज्ञानस्य ततो भिन्नत्वात् परसन्तानज्ञानार्थवत्। नाप्यनुमानेन; तदायत्तताया अनवगतेश्छिन्नमात्रतयैव आत्मानमवगाहयति नान्यायत्ततया ततोऽन्यस्य पिशाचेश्वरे(र)-तुल्यत्वात्। यदि च समनन्तरविज्ञानोत्पाद्यत्वेन स्पष्टता; तदाऽनुमानज्ञानस्यापि समनन्तरज्ञानोत्पाद्यत्वेन निर्विकल्पकत्वमनुषक्तम्।

अथ स्वलक्षणप्रतिभासिता स्पष्टता; तत्र किं प्रतिभाति–किम् अर्थः, ज्ञानम्, उभयं वा? तद्यदि अर्थः; तदयुक्तम्; अप्रसिद्धायाः(यां) प्रसिद्धौ तत्प्रसिद्ध्यभावात्। अथ ज्ञानम्; तदनुमानेऽपि प्रतिभाति तदप्यस्तु निर्विकल्पकम्। तन्निर्वि-

कल्पकत्वे तर्हि अपोह्यो मृग्योऽधुना कल्पनापोढपदस्य। अथोभयं प्रतिभाति; तदयुक्तम्; एकोपलम्भस्य द्वितीयाकारपरिहारस्थितिधर्मत्वाभ्युपगमात्।

अथ अतीतानागतार्थगृहीतिरूपा कल्पना; तत्र किमवभाति–अर्थः, तदभावो वा, न किंचिद्वा? यद्यतीतोऽर्थः प्रतिभाति; न तर्हि तस्य कल्पनात्वम् वर्त्तमाननीलज्ञानवत्। नाप्यर्थस्य अतीतता प्रतीयमानत्वेन नीलजलादिवत्। नहि प्रतीयमानस्य अतीतता नाम। यदि च प्रतीयमानस्यापि अतीतता उच्यते तदा सर्वस्य बुद्ध्युपलक्षितस्य अतीतता भवेत्। ततश्च वर्त्तमानव्यवहारविरहः स्यात्।

अथ तदभावः प्रतिभाति; तस्याप्यतीतता नास्ति, स्वेनरूपेण विद्यमानत्वात्। नापि तद्विषयविज्ञानस्य कल्पनात्वमुपपद्यते, अभावार्थसामर्थ्येन समुद्भवात्। असामर्थ्ये वा विषयार्थश्चिन्त्यः। अथ निर्विषयम्; न तर्हि तदतीतानागतार्थविज्ञानम् अतीतानागतार्थोपकाररहितमपदिश्यते। न च निर्विषयत्वे सति सविकल्पकत्वं निर्विकल्पकत्वं वा, अपि तु ज्ञानात्मतयैव तस्याऽव्यवस्थितिः। न च ज्ञानमात्रतया तस्य सविकल्पकत्वमिष्यते सर्वज्ञानानां सविकल्पकत्वप्रसङ्गात्। यदि च निर्विषयत्वेन अतीतानागतार्थविज्ञानस्य सविकल्पकत्वमभ्युपेयते, निर्विकल्पकाभिमतकेशोण्डुकविज्ञानस्यापि सविकल्पकत्वमापद्यते। न च अतीतानागतविज्ञानस्य निर्विषयत्वमस्ति स्वांशपर्यवसितत्वात्। नापि स्वांशव्यतिरिक्तोऽर्थोऽन्योस्ति एकोपलस्ते(०लम्भे)न अपोहितत्वात्। न च स्वांशस्य वञ्चनोपपद्यते, तदभावात् सर्वं विज्ञानं सविकल्पकं निर्विकल्पकं वा वक्तव्यं भेदानुपपत्तेः।

यदप्युक्तम्–"कल्पनापोढं प्रत्यक्षम् अर्थसामर्थ्येन समुद्भवात् रूपादिस्वलक्षणवत्" इति; तत्र किं प्रतीयमानस्व-

लक्षणोद्भवत्वं विवक्षितम्, आहो अर्थमात्रोद्भवत्वम्? तद्यदि प्रतीयमानस्वलक्षणोद्भवत्वं विवक्षितम्; तदा रागादिसंवेदनस्य योगिप्रत्यक्षस्य च प्रतीयमानस्वलक्षणोद्भवत्वं न लभ्यते। अथ इन्द्रियजप्रत्यक्षविवक्षया इदमपदिश्यते अर्थसामर्थ्येन समुद्भूतत्वादिति साधनम्; तत्रापि [प्रतीयमानार्थसमुद्भव ?]-स्य बाह्यार्थनिराकरणपरत्वात्।

अस्तु वा बाह्योऽर्थः; तथापि किं तेन निमित्तात्मकेन उत्पाद्यते, आहो उपादानात्मकेन? तद्यदि निमित्तभूतेन उत्पाद्यते; तदा तदुत्पादितरूपस्य रूपरूपता न प्राप्नोति निमित्तभूतरूपोत्पादितज्ञानवत्। अथ उपादानात्मकेन उत्पाद्यते; तदा अनया रीत्या रूपरूपता आपद्यते ज्ञानस्य रूपोत्पादितरूपस्येव। ततः सर्वम् अविज्ञानात्मकं जगत् स्यात्। अविज्ञानात्मके च जगति मानमेयव्यवहाराभावप्रसङ्गः। तत्प्रसक्तौ च कस्येदं लक्षणं प्रस्तूयते? अथ उपादानभूतेन रूपेण रूपमुत्पाद्यते निमित्तात्मकेन तु ज्ञानमिति चेत्; तदिदं महानुभावस्य दर्शनम्। न ह्यबालिश एवं वक्तुमुत्सहेत, न ह्येकस्य अनेकाकारता नाम। न चानेकनामकरणे मेयाद्यन्यत्वमस्ति। अन्यत्वे वा न तर्हीदं वक्तव्यम्–"स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन मनोविज्ञानं निष्पाद्यते"। तदेवम् इन्द्रियज्ञानस्य प्रतीयमानार्थसमुद्भवत्वाभावः। दृष्टान्तश्च साधनविकलः–न रूपादिस्वलक्षणस्य रूपरूपावभातार्थोद्भवत्वमस्ति।

अथ अप्रतीयमानस्वलक्षणोद्भवत्वं मे विवक्षितम्; तदाऽतीतानागतानुमानविकल्पानाम् अप्रतीयमानार्थोद्भवत्वेन निर्विकल्पकत्वमापद्यते।

[§ ३. एकोपलम्भसामर्थ्यात् विकल्पिकायाः समुद्भव इत्याद्युक्तेर्निरसनम्।]

यदप्यन्यदुक्तम्–" एकोपलम्भसामर्थ्याद् विकल्पिकायाः समुद्भवः–'इदमुपलभे इदं नोपलभे' इति किल एकभूतलोपलम्भे

सति विकल्पिका बुद्धिरुत्पद्यते–'इदमुपलभे इदं नोपलभ्यते' इत्यादिका" एतदपि न युक्तम्। यथा रूपस्वलक्षणस्य सविकल्पकविज्ञानजनकत्वं नास्ति अविकल्पकत्वात्, तथा विज्ञानस्वलक्षणमपि सविकल्पकविज्ञानोत्पादकत्वमतिवर्त्तते अविचारकत्वाऽविशेषात्। अथ अविचारकत्वाऽविशेषेऽपि निर्विकल्पकविज्ञानस्य सविकल्पकविज्ञानोदयदानसामर्थ्यं जेगीयते; तदा रूपादिस्वलक्षणस्याप्येतदस्तु, ततश्च प्रत्यक्षानुमानयोर्भेदानुपपत्तिः।

[§ ४. प्रत्यक्षसाधन एवेत्यादेर्बौद्धोक्तस्य खण्डनम्।]

यदप्यन्यदुक्तम्–" प्रत्यक्षसाधन एव इन्द्रियधियः कल्पनाविरहः। " अथ कोऽयं कल्पनाविरहो नाम? किं ज्ञानकायतादात्म्यव्यवस्थितदेहः, तद्विपरीतो वा? तद्यदि ज्ञानतादात्म्येन व्यवस्थितः; तदा प्रत्यक्षसाधनः कल्पनाविरहः इति। किमुक्तं भवति? प्रत्यक्षसाधनो विज्ञानाकारः प्रत्यक्षधियः। न केवलं प्रत्यक्षकल्पनाविरहः प्रत्यक्षसाधना(नोऽ)नुमानधियोऽपि प्रत्यक्षसाधन एव, ज्ञानाकारस्य अनुमानज्ञानेऽपि भावात्। अथ अनुमानज्ञानस्यापि आत्मसंवित्तौ कल्पनारहितत्वं बाह्यार्थापेक्षया कल्पनात्मकत्वमिति चेत्; तदेतन्मुग्धाभिधान(नं) दुनोति मानसम्–

" कथं स्युर्विविधाकाराः तदेकस्य वस्तुनः। "

अथ भेदेन व्यवस्थितः; तद्गतिः कथम्? न स्वसंवेद्योऽसौ, ज्ञानाकारव्यतिरेकात्। नापि जनकत्वा-ऽऽकारार्पकत्वेन गृह्यते, विरहस्य सामर्थ्यव्यतिरेकात्। एवं च सति यदुक्तम्– " प्रत्यक्षसाधन एव इन्द्रियधियः कल्पनाविरहः " इति तद्बालवल्गितम्॥छ॥

अथ 'गौः' इत्यादि ज्ञानं कल्पना। कथमस्य कल्पनात्वम्, अर्थेनाऽजनितत्वात्?। यदि गवादेरर्थस्य गौरित्यादिज्ञानोत्पाद-

नसामर्थ्यं स्यात् तदा प्रथमाक्षसन्निपातवेलायामपि कुर्यात् तदाऽत्मनोऽविशेषात्। तदुक्तम्–

" यः प्रागजनको बुद्धेरुपयोगाविशेषतः।
स पश्चादपि तेन स्यादर्थापायेऽपि नेत्रधीः॥ "

अथ शब्दस्मरणमपेक्ष्य उत्पादयति; तदेवास्तु तदेहानन्तरफलत्वाद् 'गौः' इत्यादिज्ञानस्य। तदुक्तम्–

" अर्थोपयोगेऽपि पुनः स्मार्त्तं शब्दानुयोजनम्।
अक्षधीर्यद्यपेक्षेत सोऽर्थो व्यवहितो भवेत्॥ "

तदेतदयुक्तम्। प्राथमिकज्ञानं 'गौः' इतिज्ञानम्, गोपिण्डावगाहिनि विज्ञाने 'गौः' इतिज्ञानसंज्ञा। ततश्च प्रथमाक्षसन्निपातजमपि भवति। एवं च पूर्वापरविज्ञानयोः एकविषयत्वे उभयोः 'गौः' इतिज्ञानसंज्ञाविषयत्वम्।

नन्वेकस्य क्रमभाविविज्ञानजनकत्वम् किम्– एकेन स्वरूपेण, स्वरूपान्तरेण वा? एकेनैव स्वभावेन जनयति इति ब्रूमः। नन्वेककालीनता पूर्वापरविज्ञानयोः एकस्वभावायत्तत्वे सति आपद्यते; यद्येवम् एकनीलोत्पादितनयनालोकविज्ञानानाम् एकदेशसम्बन्धित्वम् एकाकारता एकव्यक्तित्वमापद्यते एकनीलोत्पाद्यत्वाऽविशेषात्। अथ एवंभूतं तत् तस्य स्वरूपं यत् चित्रकार्यकरणात्मकम्; यद्येवं मामकेऽपि पक्षे क्रमभाव्यनेककार्यकरणात्मकमेव स्वरूपं स्वहेतुसामर्थ्यनियमितस्योत्पत्तेः। अथवा, यथा त्वदीये पक्षे मनोज्ञानं स्वलक्षणविषयं न च प्रथमाक्षसन्निपातजम् अपि तु इन्द्रियज्ञानेन स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणा उत्पाद्यते तथा 'गौः' इत्यादिकमपि ज्ञानं प्रथमाक्षजेन विज्ञानेन स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणा स्मरणाद्युपहितेन चोत्पाद्यते इति निर्विषयत्वाभावः, विषयान्तर[स्य] स्वकारणसामर्थ्यानुरोधेन 'गौः' इत्यादिज्ञानजननयोग्यस्योत्पत्तेः;

स्मरणमपि समर्थमुत्पन्नं सत् 'गौः' इत्युत्पादयति । एवं सति यदुक्तम्– ' यः प्रागजनको बुद्धेः ' इत्यादि, तत् स्वपरमतमनालोच्यैव जेगीयते । न च ज्ञानाकारव्यतिरेकेण वै(वि)कल्पाकारोऽन्योऽस्ति । कल्पनाकारो हि ज्ञानतादात्म्येन व्यवस्थितः । ततश्च ' कल्पनापोढं प्रत्यक्षम् '। किमुक्तं भवति ? ज्ञानापोढं प्रत्यक्षम् । यो यत्स्वभावोपनिबद्धः स निवर्त्तमानः तमादाय निवर्त्तते । ततश्च अज्ञानात्मकं प्रत्यक्षं भिक्षूणां प्रसक्तम् ॥ छ ॥

[§ ५. प्रत्यक्षलक्षणगतस्य अव्यभिचारिपदस्य निरसनम् ।]

तथा अव्यभिचारि पदमपि नोपादेयम् अपोह्यज्ञानाऽसंभवात् । ननु मार्त्तण्डपादसंघातोत्पादितं विज्ञानमपोह्यमस्ति । कथं तदपोह्यम् ? अतथ्योदकविषयत्वात् । यद्यतथ्योदकविषयम्; कथं तदपनीयते, अतथ्योदकाकारस्य स्वेन रूपेण विद्यमानत्वात् मधुरोदकदीर्घोदकाकारवत् ? अथ तत्र मधुरोदकं विद्यते, स्वेन रूपेण प्रतीयमानत्वात्; तदिहाप्युदकं प्रतीयते ' उदकं गृह्णामि ' इति व्यवहारदर्शनात् । सत्यम्, प्रतिभाति, अतथ्यं तु प्रतिभाति ।

[§ ६. प्रसङ्गायाताया अतथ्यताया विकल्प्य दूषणम् ।]

अतथ्यता का ? किं प्रतीयमानस्याभावः, अथ प्रतीयमान एवाऽभावः ? यदि प्रतीयमानस्याभावः; सोऽत्र नावभाति, उदकाकार एवाऽवभाति । अथ प्रतीयमान एवाऽभावः; सोप्यनुपपन्न एव; नहि भावाकारे प्रतीयमाने अभावकल्पना युक्ता, अन्यथा रसाकारे प्रतीयमाने रूपाकारः परिकल्पयितव्यः । ततश्चालूनविशीर्णं जगत् स्यात् । यदि च अभावः प्रतिभाति; कथं तदुदकज्ञानम्, मिथ्या ज्ञानं चोच्यते अभावविषयस्य स्वेन रूपेण विद्यमानत्वात् ?

तदेतदुदकज्ञानम् उदकं विषययति, उदकाभावम्, आत्मानम्, न किंचिद्वा ? तद्यदि उदकं विषययति ; तदा न तस्य मिथ्यात्वं मधुरोदकसंवेदनस्येव। तत्र तथ्योदकं प्रतिभाति ; किं यत् प्रतिभाति तत् तथ्योदकम्, आहो यत् तथ्यं तत् प्रतिभाति ? तद्यदि यत् प्रतिभाति तत् तथ्यम् ; इहाप्युदकं प्रतिभाति, प्राप्ता तस्यापि तथ्यता ।

अथ यत् तथ्यं तत् प्रतिभाति ; तस्य तथ्यता कथं ज्ञायते— किं प्रतीत्या, अन्यथा वा ? यदि प्रतीत्या ; इहापि प्रतीतिरुत्पद्यते, अस्तु तथ्यता । अथ प्रतीतिमन्तरेण तथ्यता उपपाद्यते ; तदा सुस्थितानि वस्तूनि ! सर्ववादसिद्धिः स्यात् । अथ प्रतीयते—यदि नाम बाध्यते ; 'प्रतीयते बाध्यते च' इति चित्रम् । प्रतीयमानत्वं च जनकत्वा—ऽऽकारार्पकत्वेन व्याप्तम्, यच्च न जनयति नाकारमर्पयति य(त)न्नावभाति, यथा रूपज्ञाने रसः । प्रतीयते च अत्र उदकम्, जनकत्वा—ऽऽकारार्पकत्वोपपत्तिः, तदुपपत्तौ च न बाधोपपत्तिः, जनकत्वा—ऽऽकारार्पकत्वस्य सत्त्वनिबन्धनत्वात् ।

अथ अभावं विषययति ; न तर्हि उदकज्ञानरूपता अभावगृहीतिरूपत्वात् । नापि तस्य मिथ्यात्वम्, अभाव विषयत्वस्योपपत्तेः । न च सौगतमते अभावे कश्चिद् विषयार्थ उपपद्यते जनकत्वा—ऽऽकारार्पकत्वव्यतिरेकात् । उदकाकारो हि प्रतीत्युत्कलितः, तदभावश्च अप्रातीतिक इहोपपाद्यते मुग्धबौद्धैः ।

अथ आत्मविषयम् ; तथापि व्यभिचारिता नोपपद्यते स्वांशस्याऽवञ्चनात्, नहि ज्ञानम् आत्मानं विसंवदति । नापि तद् उदकज्ञानत्वेन व्यपदेश्यं रागादिसंवेदनवत् । नहि नीलाभं संवेदनं रसविज्ञानात्मकत्वेन व्यपदिश्यमानं दृष्टम् ।

अथ निर्विषयम्; न तर्हि तदुदकज्ञानम्, उदकज्ञानतया तु प्रतिभाति, तेन जानीमो न निर्विषयम्। यदि च निर्विषयम्; कथं तन्मिथ्याज्ञानम्? ज्ञानमात्रानुरोधेन न मिथ्याज्ञानं नापि सम्यग्ज्ञानम्। न च भवतां पक्षे ज्ञानं निरालम्बनमस्ति स्वांशपर्यवसिततत्वात्।

[§ ७. व्यभिचारित्वस्य विकल्प्य खण्डनम्।]

विज्ञानस्य व्यभिचारिता किम्–स्वसत्तामात्रानुरोधेन, आहो परसत्तानुरोधेन? तद्यदि स्वसत्तानुरोधेन; तदा सर्वविज्ञानानां व्यभिचारिता प्राप्नोति, ज्ञानरूपतायाः सर्वत्र भावात्, न किंचिद्विज्ञानमव्यभिचारि स्यात्।

अथ परसत्तानुरोधेन व्यभिचारिता उच्यते किम्–अनुपकारकपरसत्तानुरोधेन, आहो उपकारकपरसत्तानुरोधेन? तद्यदि अनुपकारकपरसत्तानुरोधेन व्यभिचारिता; तदा सर्वसंवित्तीनां व्यभिचारिता प्राप्नोति, अनुपकारकपरसत्ताऽविशेषात्। अथ उपकारकपरसत्तानुरोधेन व्यभिचारि अभिधीयते किं–करणभूतपरोपकारकपरसत्तानुरोधेन, आहो कर्मतापन्नोपकारकपरसत्तानुरोधेन? तद्यदि करणभूतपरोपकारकसत्तानुवेधेन; तदा सर्वासां संवित्तीनां मिथ्यात्वमापद्यते करणभूतपरोपकारकसत्ताऽविशेषात्।

अथ कर्मकारकोपकारकपरसत्तानुवेधेन मिथ्यात्वम्; तदयुक्तम्; न तस्य मिथ्यात्वं सत्योदकज्ञानस्येव कर्मकारकेण उपक्रियमाणत्वात्।

[§ ८. ज्ञानगतस्य सम्यक्त्वस्यापि विकल्प्य विद्लनम्।]

तथा सम्यग्ज्ञानत्वमपि कथम्? किं ज्ञानसत्तामात्रानुरोधेन, आहो परसत्तानुरोधेन? तद्यदि ज्ञानसत्तामात्रानुरोधेन सम्यक्त्वम्; तदा सर्वसंवित्तीनां सम्यक्त्वं प्राप्नोति ज्ञानाकारस्योपपत्तेः।

अथ परसत्तानुरोधेन सम्यक्त्वम्; तदा किमनुपकारकपरसत्तानुरोधेन, किंवा उपकारकपरसत्तानुरोधेन? तद्यदि अनुपकारकपरसत्तानुरोधेन सम्यक्त्वम्; तदा सर्वासां संवित्तीनां सम्यक्त्वमापद्यते, अनुपकारकपरसत्ताऽविशेषात्। अथ उपकारकपरसत्तानुरोधेन किम्– करणभूतपरोपकारकपरसत्तानुवेधेन, आहो कर्मतापन्नोपकारकसत्तानुवेधेन? तद्यदि करणभूतपरोपकारकसत्तानुवेधेन, तदा सर्वासां संवित्तीनां सम्यक्त्वमापद्यते, करणभूतपरोपकारकसत्ताऽविशेषात्। अथ कर्मतापन्नपरसत्तानुवेधेन सम्यक्त्वमभिधीयते; तदा रागादिसंवेदनस्य सम्यक्त्वं न प्राप्नोति अतीतानागतार्थविषयत्वे योगिज्ञानस्य च।

यत् तत् व्यभिचारि ज्ञानम् तत्किम्– व्यभिचारिभूतेन उपादानज्ञानेन जन्यते, आहो अव्यभिचारिभूतेनोपादानज्ञानेन जन्यते? तद्यदि व्यभिचारिभूतेन उपादानज्ञानेन जन्यते; तदपि व्यभिचारिभूतेन– प्राप्ता व्यभिचारिपरंपरा। संग्राह्यमव्यभिचारि न लभ्यते।

अथ अव्यभिचारिभूतेनोपादानज्ञानेन जन्यते; तद् उपादानकारणमनुकुर्वद्वा उपजायते, अननुकुर्वद्वा? तद्यदि उपादानकारणानुकारेणोत्पाद्यते; तदा किमाप्नोति? अव्यभिचारि स्वरूपानुकारेण उत्पाद्यते। कथम्? अव्यभिचारस्य ज्ञानतादात्म्येन व्यवस्थितः। न च एकदेशानुकारित्वमस्ति उपादानकारणस्य निरवयवत्वात्। एवं सर्वं विज्ञानमव्यभिचारि प्रसक्तम्– अपोह्यज्ञानानुपपत्तिः। न च व्यभिचाराऽव्यभिचारौ ज्ञानाद् व्यतिरिक्तौ स्तः। यथा रसाकारो रूपाकारो वा ज्ञानाकाराद् भिन्नः न तथा व्यभिचाराऽव्यभिचारौ ज्ञानाद् व्यतिरिक्तौ। ततश्च व्यभिचाराकारोऽत्र निराक्रियते। किमुक्तं

भवति ? ज्ञानाकारोऽत्र निराक्रियते। ततश्च अज्ञानात्मकं प्रत्यक्षं प्रसक्तं सौगतानाम् ।

अपि च यथा रूपेण उपादानभूतेन जन्यते रूपम् तथा ज्ञानमपि उपादानभूतेनैव जन्यते । य एव तस्य रूपोत्पादने आत्मा स एव तस्य ज्ञानोत्पादनेऽपि । नहि तस्य ज्ञानोत्पादने आत्मान्यत्वम् ।

अथ निमित्तभूतेन ज्ञानमुत्पाद्यते, उपादानभूतेन रूपमिति चेत्; तत्कथमेकस्य अनेकाकारयोगितोपपद्यते ? न च संज्ञान्यत्वे मेयान्यत्वमुपपद्यते, रूपवद् विज्ञानस्यापि रूपरूपता प्राप्नोति। तत्प्राप्तौ च न परलोकी आत्मा, तदभावान्न परलोकः। इदमेवं चेतसि समारोप्याह भगवान् बृहस्पतिः– " परलोकिनोऽभावात् परलोकाभावः । "

अथ रूपोपादानजन्यत्वेपि ज्ञानरूपतैव; रूपस्यापि ज्ञानरूपता प्राप्ता रूपोपादानजन्यत्वात् ज्ञानरूपवत् । अथ ज्ञा[नं ज्ञानेन उपादानभूतेन जन्य]ते; रूपमपि तेनैव जन्यते, नहि तस्य रूपोपादाने आत्माऽन्यत्वम् । एवं च–

" तदतद्रूपिणोभावाः तदतद्रूपहेतुजाः ।
तद्रूपादि[1] किमज्ञानं विज्ञानाभिन्नहेतुजम् " ॥ (प्र० वा० ३/२५१)

अथ रूपोपादानजन्यत्वे विज्ञानस्य न रूपात्मता तथा ज्ञानोत्पादन(ज्ञानोपादान)जन्यत्वेऽपि विज्ञानस्य न ज्ञानरूपता, ततश्च नैरात्म्यप्रसङ्गः। अथ ज्ञानोपादानजन्यत्वे ज्ञानाकारपरिकल्पना तथा रूपोपादानजन्यत्वे रूपाकारता, आलोकोपादानजन्यत्वेन आलोकाकारता प्राप्नोति; ततश्च आकारकदम्बात्मकं ज्ञानं प्रसक्तम् । अनिष्टं चैतत्, अद्वयरूपत्वेनाऽभ्युपगमात् । यत् तद्रूपोत्पाद्यं विज्ञानं तत्किम् – एक-

१ °दिकमज्ञा° – परि० ।

देशेन रूपोत्पाद्यत्वेन स्थितम्, सर्वात्मना वा उत्पाद्यत्वेन पर्यवसितम्? तद्यदि एकदेशेन स्थितम्; तदयुक्तम्; अखण्डस्य एकदेशविरहात्। अथ सर्वात्मना रूपोत्पाद्यत्वेन पर्यवसितम्; तदा विज्ञानोत्पाद्यं न प्राप्नोति यथा एककारकसमूहोत्पाद्यत्वेन पर्यवसितस्य कारकसंघातस्य संघातान्तरोत्पाद्यत्वं न दृष्टम्, ततश्च विज्ञानसंघातानुपपत्तिः।

तथा रूपमपि ज्ञानम् एकदेशेन कुर्यात्, सर्वात्मना करणपर्यवसितं वा? तद्यदि एकदेशेन करोति; तदयुक्तम्; अखण्डस्य एकदेशाऽयोगात्। अथ सर्वात्मना करोति; तदा रूपं सर्वात्मना विज्ञानकरणे पर्यवसितं न रूपान्तरकरणे प्रवर्त्तते, यथा एककारकसामग्री एककार्योत्पादनपर्यवसिता कार्यान्तरसवित्री न भवति, तथा रूपमपि रूपान्तरोत्पादकं न भवति, ततश्च रूपान्तरस्य आकस्मिकत्वम् कथं तदा(०कत्वम्, तदाऽऽ)कस्मिकत्वे कार्यानुमानं विलुप्यते सौगतानाम्।

अथ अनेककार्योत्पादकत्वेन पर्यवसितं रूपस्वरूपम्; तदा घट-संख्या-सामान्यादेरपि अनेकाधिकरणाश्रितात्मकं रूपम्, वृत्तिविकल्पदोषानुपपत्तिः।

[§ ९. जातिं प्रतिवदितुं बौद्धैर्दत्तानां दूषणानामेकैकशो निरासः।]

इतोऽपि वृत्तिविकल्पदोषानुपपत्तिः – वृत्तिविकल्पदोषेण वृत्तेरेव निराकरणं कृतम्, न घट-संख्या-सामान्यादेः, ततोऽन्यत्वात्। नहि अन्यस्याऽभावे अन्यस्याभावोऽस्ति असम्बन्धात्। नहि अनुदकः कमण्डलुः इत्युक्ते कमण्डलोरभावः प्रतीयते, कपालानां तदुदकस्य वा, अपि तु कमण्डलुना साकम् उदकस्य विश्लेषमात्रं प्रतीयते।

ननु नैयायिकैः वृत्तिमद् घट-सामान्यमभ्युपेयते, तदभावे कथं तस्य संस्थितिः? यद्येवं रूपरसविज्ञानानामपि वृत्तिरभ्यु-

पेयते नैयायिकैः, तद्भावेऽपि सद्भावोऽभ्युपगम्यते तेषां भवद्भिः। अथ तानि प्रतिभान्ति वृत्त्यभावेऽपि, तेन तेषामभ्युपगमः क्रियते; यद्येवं घट-संख्या-सामान्यादेरपि स्वरूपं प्रतिभाति अभिन्नानुगतात्मतया। न चानुभूयमानस्य निह्नवो युक्तः सर्वोपलापप्रसङ्गात्। अनुपलब्धौ वा सैव समर्था, अलं वृत्तिविकल्पदोषेण। यद्युपलभ्यते; तदा वृत्तिविकल्पदोषो न वक्तव्यः। अथ नोपलभ्यते; तथापि न वक्तव्यः।

[§ १०. देशभेदेनाऽग्रहणात् इत्यादेः समालोच्य प्रतिविधानम्।]

यदप्युक्तम्– "देशभेदेनाऽग्रहणात् घट-सामान्यानुपपत्तिः"; तदप्ययुक्तम्; न देशभेदेन वस्तूनां भेदोऽपितु आकारभेदेन, अभिन्नानुगतात्मतया तयोः स्वरूपमनुभूयते। न देशभेदाग्रहणेन स्वावयवाधिकरणेन सह तयोस्तादात्म्यं सिद्ध्यति असत्त्वं वा। यद्याकारभेदेन ग्रहणम्; तदा देशभेदेनाग्रहणस्य अप्रयोजकत्वम्[1], आकारभेदग्रहणेन स्वरूपान्यत्वस्य प्रबोधितत्वात्। अथ आकारान्यत्वेन नावबोधोऽस्ति; स एवास्तु, असद्व्यवहारसमर्थत्वात्, किं देशभेदाग्रहणेन? स्वहेतोरेव नियतदेशकालनियमितस्योत्पत्तेर्न देशान्तरादौ ग्रहणम्, अन्यथा रूपादेरसत्त्वं स्यात् इतरदेशलग्नस्याऽग्रहणात्।

[§ ११. नास्ति घट-सामान्यम्, तदग्रहेऽग्रहात् इत्यस्य विभञ्जनम्।]

यदप्युक्तम्– "नास्ति घट-सामान्यम्, तदग्रहेऽग्रहात्" किमनेन क्रियते? किम् अवयवाधिकरणाऽव्यतिरेकप्रतिपादनम्, आहो असत्त्वप्रतिपादनम्? तद्यदि अव्यतिरेकप्रतिपादनं क्रियते; कस्यात्र पक्षीकरणम्? किं घटसामान्यस्य, आहो तदवयवाधिकरणस्य?

तद्यदि घटसामान्यस्य पक्षीकरणम् तत्किम्– अवगतस्य, अनवगतस्य वा? तद्यदि अनवगतस्य; तदयुक्तम्; नह्यनव-

१ अप्रयोजनकत्वम्– परिव०।

गते धर्मिणि हेतोरुत्थानमस्ति। न चाश्रयवैकल्य(ये) गमकत्वम्। अथ अवगतस्य; तदा तेनैव भिन्नाकारावगमेन अव्यतिरेकप्रत्यायकसाधनं बाध्यते।

अथ तदवयवाधिकरणस्य पक्षीकरणम्; तत्रापि किम् – स्वस्मात् स्वरूपाद् अव्यतिरेकः साध्यते, [आहो[1] परस्मात्] इति? [यदि स्वस्मात् स्वरूपादव्यतिरेकः साध्यते;] सिद्धसाध्यतया सम्बोधयितव्याः। अथ परस्मादव्यतिरेकः साध्यते; स परात्मा प्रतिपन्नः, अप्रतिपन्नो वा? यदि प्रतिपन्नः; स किम् – भिन्नाकारतया अवगतः, अभिन्नाकारतया वा? तद्यदि भिन्नाकारतयोपलब्धः; तदाऽनेनैव भिन्नाकारावगमेन अभेदप्रत्यायकं साधनं बाध्यते। अथ अभिन्नाकारतयाऽवगतः; न तर्हि परात्मा, इदानीं स्वस्मात् स्वरूपादव्यतिरेकः साध्यत इति सिद्धसाध्यतया संबोधयितव्याः। अथ अनवगतः; न तर्हि एकत्वं रथतुरगविषाणयोरिव।

अथ अभावः साध्यः; तत्रापि कस्य पक्षीकरणम्– किं घटसामान्यस्य, आहो तदवयवाधिकरणस्य? तद्यदि घटसामान्यस्य पक्षीकरणम्; तत्किम् – अवगतस्य, अनवगतस्य वा? यद्यवगतस्य; तदा तेनैव सद्भावावगमेन अभावहेतोर्बाध्यमानत्वात् अगमकत्वम्। अथ नावगतम्; कथं तस्य पक्षीकरणम् स्वयमनवगतस्य पक्षीकरणायोगात्?

अथ अवयवाधिकरणस्य पक्षीकरणम्, घटसामान्यं नास्तीति प्रतिज्ञा; तदग्रहेऽग्रहात् इत्यस्य हेतोः तदभावेन सह सम्बन्धो नास्ति। तादात्म्यतदुत्पत्तिसम्बन्धाभावे सति कथं गमकत्वम्?

तदग्रहेऽग्रहादित्यस्य कोऽर्थः? किम् – अवयवाधिकरणग्रहणमेव घटसामान्यस्य ग्रहणम्, आहो अवयवाधिकरणग्रहणा-

१. कोष्ठकगतः पाठः ताडपत्रे नास्ति। अर्थानुसन्धानबलात् अस्माभिरत्र प्रक्षिप्तः।

नन्तरं घट-सामान्यस्य ग्रहणम्, किं वा घट-सामान्यस्याग्रहणमेव विवक्षितम् ? तद्यदि अवयवाधिकरणग्रहणमेव घट-सामान्यस्य ग्रहणं विवक्षितम्; तदा नानेनाव्यतिरेकः अन्यतरासत्त्वं वा प्रतिपाद्यते, यथा नीलतद्धियोः एकोपलम्भेऽपि नान्यतराभावः, अव्यतिरेको वा, तथा नीललोहितयोः एकोपलम्भेऽपि नान्यतराभावः, अव्यतिरेको वा ।

अथ अवयवाधिकरणग्रहणानन्तरं घट-सामान्यग्रहणं विवक्षितम्; तदा नानेनाव्यतिरेकः साध्यते अन्यतरासत्त्वं वा, यथा रूपग्रहणानन्तरं रससंवेदनं न तयोरेकतां गमयति अन्यतरासत्त्वं वा ।

अथ अग्रहणमेव विवक्षितं घट-सामान्यस्य; तदा 'तदग्रहेऽग्रहात्' इत्येतन्न वक्तव्यम्, 'अग्रहात्' इत्येतावदस्तु । नहि अन्यस्याऽग्रहे तदनुपलम्भसिद्धिः, तत्स्वभावविनिवृत्तिनिबन्धनत्वात् तदनुपलम्भस्य ।

न चायं व्यतिरेकार्थो लभ्यते, 'तदग्रहेऽग्रहात्' इत्यस्य हेतोः घटसामान्यस्याग्रहणमेव, अपि तु अवयवाधिकरणग्रहणानन्तरं घट-सामान्यस्य ग्रहणं लभ्यते ततश्च विपरीतसाधनाद् विरुद्धो भवति ।

[§ १२. एकपिण्डग्रहणकाले उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्येत्यादेः समीक्ष्य प्रतिवचनम् ।]

यदप्यभ्यधायि– "एकपिण्डग्रहणकाले उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य अनुपलब्धेर्नास्ति सामान्यम् ।" क एवमाह– नोपलब्धं सामान्यम् । अपि तु उपलब्धमेव । कथं ज्ञायते ? द्वितीयादिपिण्डदर्शने सति पूर्वे पिण्डे स्मृतिदर्शनात् 'अनेन सदृशोऽसौ' एवमनुस्मरति । अथवा एकपिण्डग्रहणकाले तद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तं न भवति तेन नोपलभ्यते । उपलब्धिलक्षणप्राप्तिरिह अनेकसहकारिपिण्डोपनिपातः । यदि चोपलब्धिलक्षण

प्राप्तम्, कथं नोपलभ्यते? अथ नोपलभ्यते; न तर्हि उपलब्धिलक्षणप्राप्तम्। उपलब्धिलक्षणप्राप्तिरिह प्रत्ययान्तरसाकल्य(ल्यं) स्वभावविशेषस्स(श्च)। एतच्चेद् विद्यते; कथमनुपलब्धिः? एवंभूतस्याप्यनुपलम्भे परिकल्प्यमाने सर्ववस्तूनामनुपलम्भप्रसङ्गः। उपलब्धौ वा अन्यत् कारणमन्वेष्टव्यम्। अथ प्रत्ययान्तरसाकल्यमात्रं विवक्षितम्, न तत्स्वभावविशेषः; यद्येवम् अदृश्यस्यैव अनुपलब्धिः न दृश्यानुपलब्धिरस्ति। यदि च अन्यकारकसाकल्यम् उपलब्धिलक्षणप्राप्तिरभिधीयते; तदापि उपलब्ध्या भवितव्यम् नानुपलब्ध्या। इतरकारकसाकल्यं हि उपलम्भजननसामर्थ्यम्। तच्चेद् विद्यते; कथमनुपलब्धिः? तस्मादनुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यैव अनुपलब्धेः(ब्धिः), नोपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य।

[§ १३. क्षीरोदकवद्विवेकेनाग्रहणान्नास्ति सामान्यमित्युक्तेखण्डनम्।]

यदप्युवाच– "क्षीरोदकवद् विवेकेनाऽग्रहणात् नास्ति सामान्यम्;" तदप्ययुक्तम्; विवेको हि आकारान्यत्वं व्यक्तीनामननुगमरूपता, सामान्यं तु अनुगताकारम्, अनयोः सारूप्यम्। तैः सह सारूप्यमस्य इति विविक्ताकारावगमदर्शनात् तथा, क्षीरोदकयोरपि विविक्तमेव ग्रहणम्। तत्र क्षीरोदकयोः एकभाजननिक्षेपे सति किम् – केवलं क्षीरं प्रतिभाति, आहो उदकम्, उभयं वा? तद्यदि क्षीरमेव प्रतिभाति; कथं तद् उदकाकारान्न विविक्तं भवति?

अथ उदकं केवलं प्रतिभाति; तदपि कथं क्षीरान्न विविक्तं भवति?

अथ उभयं प्रतिभाति; तदा उभयोरितरेतराकारविविक्तयोर्ग्रहणं तादात्म्यव्यतिरेकात्।

[§ १४. एकत्र दृष्टो भेदो हि–इत्यादेः कारिकायाः प्रतिवदनम्।]

यदप्यन्यदुक्तम्–

" एकत्र दृष्टो भेदो हि क्वचिन्नान्यत्र दृश्यते।
न तस्माद् भिन्नमस्त्यन्यत् सामान्यं बुद्ध्यभेदतः॥

[प्रमाणवा. ३.१२६]

इत्येतदप्ययुक्तम्। एकत्र दृष्टे(ष्ट)स्य भेदस्य अन्यत्र दर्शनमस्त्येव, यथा घटवस्त्रादेः एकावयवोपरिदृष्टस्य अवयवान्तरलग्नस्य उपलम्भात्, तथा सामान्यमपि भिन्नमस्ति, अनुगताकारस्य बुद्धिभेदेनाध्यवसीयमानत्वात्।

[§ १५. नित्यस्य क्रमेतराभ्यामित्यादेः प्रतिसमाधानम्।]

यदप्यन्यदुक्तम् – " नित्यस्य क्रमेतराभ्यामर्थक्रियाकरणसामर्थ्यं नास्तीत्यसत् सामान्यम् "; तदेतदयुक्तम्; उभयथाप्यर्थक्रियासम्पादनमुपपद्यते युगपत्, क्रमेण च। ननु क्रमकर्तृत्वमभिन्नस्य नोपपद्यते, कार्यस्यैककालीनता प्राप्नोति; एतच्चाऽसमीचीनम्; यथा भवतां पक्षे एकं नीलस्वलक्षणम् अनेकाकारकार्यं नियतदेशसम्बन्धि जनयति नयनालोकमनस्कारादिरूपम्, न च कार्याणाम् एकाकारता एकदेशसम्बन्धिता वा विद्यते एकस्वभावसमुद्भवत्वेऽपि, तथा इहापि एवंभूतं तत्सामान्यं यत् क्रमेतराभ्यां कार्योत्पादात्मकम्।

ननु यदि क्रमेण कार्यं करोति तदा तदेव जनकम्, तदेव चाऽजनकम्; सत्यम्, तदेव जनकं तदेव चाऽजनकम्। ननु जनकाऽजनकयोर्भेदप्रसङ्गः; न प्रसङ्गोस्ति, यथा त्वदीये पक्षे एकं नीलस्वलक्षणं स्वकार्यापेक्षया जनकम्, स्वकारणात्मापेक्षया तु अजनकम्, न तस्य स्वरूपभेदोऽस्ति।

अथ स्वकारणमात्मानं च जनयति; तदयुक्तम्; तद् आत्मानं कुर्वद् उत्पन्नं वा कुर्यात्, अनुत्पन्नं वा ? तद्यदि उत्पन्नं

करोति; तदयुक्तम्; कृतस्य करणायोगात्। अथाऽनुत्पन्नं करोति; असतः कः कारकार्थः? तथा, स्वकारणमपि न जनयति इतरेतराश्रयत्वदोषप्रसङ्गात्। अतः तदेव कारकं तदेव च अकारकमिति, तथा सामान्यमपि जनकमजनकं च।

न चार्थक्रियाकर्तृत्वाभावेऽसत्त्वं सिद्ध्यति, यथा वह्नेः अयोगोलकाङ्गारावस्थायां धूमोत्पादकत्वाभावेऽपि न निवर्त्तते वह्निरूपता, स्वहेतोरेव तथाभूतस्योत्पत्तेर्वह्निस्वभावस्य धूमजनकात्मकस्य च, तथा अन्यदपि कार्यं स्वहेतुनोत्पादितं यत् वस्तुस्वभावं कार्याऽजनकात्मकं च, तथा सामान्यमपि वस्तुभूतं न च कार्यमुत्पादयति।

ननु यदि कार्यं नोत्पादयति, तदस्तीति कथं वेत्सि? तदुपलब्ध्या। ननु तदनुत्पाद्या कथं तद्गृहीतिर्भवति? स्वहेतुसामर्थ्यनियमितायाः तद्गृहीत्यात्मतयोत्पत्तेः। नच तदुत्पाद्यत्वेन तद्गृहीतित्वम्; चक्षुरादेरपि संवेद्यत्वप्रसङ्गात्। न च विषयाकारयोगित्वेन तद्गृहीतित्व(त्वं) विज्ञानात्मना व्यतिरेकेण विषयाकारसमावेशायोगात्। योऽसौ आकारो विषयार्पितः स किं ज्ञानाकाराद् भिन्नः, अभिन्नो वा? यदि भिन्नः; स तात्त्विकः, अतात्त्विको वा? यदि तात्त्विकः; तद्गतिः कथम्? किं स्वसंवेद्यत्वेन, आहो जनकत्वाकारार्पकत्वेन? तद्यदि स्वसंवेद्यत्वेन; तदयुक्तम्; अज्ञानात्मतया स्वसंवेद्यत्वायोगात्। अथ जनकत्वा-ऽऽकारार्पकत्वेन; तदा प्राप्ता आकारपरम्परा। अतात्त्विकः; तद्गतिर्नोपपद्यते; स्वसंवेद्यत्वजनकत्वव्यतिरेकात्।

अथ अव्यतिरिक्तः; स तात्त्विकः, अतात्त्विको वा? यदि तात्त्विकः; स जडात्मा, तद्विपरीतो वा? यदि जडात्मा; न तर्हि चिता सह तादात्म्यम्— चिदचितोः तादात्म्यानु-

पपत्तिः। अथ तद्विपरीतः; तदा ज्ञानमात्रता स्यात्। ज्ञानरूपता च सर्वज्ञानावधारणा(॰ज्ञानसाधारणा)–प्रतिकर्मव्यवस्थानुपपत्तिः। अथ अतात्त्विकः; तदा ज्ञानस्यापि अतात्त्विकत्वं प्राप्नोति। यदि च विज्ञानतादात्म्येन आकारोत्पत्तिर्भवति; विज्ञानं सर्वकारकनिष्पाद्येन साधारणम्–प्रतिकर्मव्यवस्थानुपपत्तिः। एवं च सति यदुक्तम्–

" अर्थेन घटयत्येनां नहि मुक्त्वार्थरूपताम्।
तस्मादर्थाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता॥ "[1]

तन्मुग्धविलसितं सौगतानाम्।

तदेवं वृत्तिविकल्पादिदूषणं सामान्यादौ न संभवति। यथा एकं रूपम् अनेककार्योत्पादकत्वेन साधारणम्, तथा एकं सामान्यम् अनेकाधारसाधारणम्।

अथ एकरूपं नानेकं कार्यं जनयति अपि तु एकमेव; तत्रापि किं रूपमेव केवलमुत्पादयति, उत ज्ञानमेव? तद्यदि रूपमेव केवलमुत्पादयति; तदा रूपस्याऽग्रहणं प्राप्नोति विज्ञानाऽजननात्।

अथ ज्ञानमेव केवलमुत्पादयति तथापि मानसं प्रत्यक्षं न प्राप्नोति। स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन यज्जन्यते तत् मानसं प्रत्यक्षम्। न च स्वविषयानन्तरभावी विषयोऽस्ति रूपान्तराजनकात्। तस्मादेकमेव रूपं विज्ञान-नीलादिकार्यसाधारणं प्रतिपत्तव्यम्।

चक्षूरूपालोकादीनि कारणानि विज्ञानमुत्पादयन्ति, तानि किम्– एकस्वभावयुक्तानि, आहो नियतस्वभावयुक्तानि? तद्यदि एकस्वभावतया उत्पादयति(न्ति); तदा कारकैकत्वं प्राप्नोति अभिन्नस्वभावयोगित्वात्। अथ नियतस्वभावयुक्तानि

१. तुल्य–न्यायवि० १।९

ज्ञानरूपं कार्यं जनयन्ति; तदा विज्ञानस्य अभेदरूपता निवर्त्तते नियतस्वभावकारकजन्यत्वाद् रूपशब्दादिवत्।

अथ विविधादपि कारणाद् अखण्डितरूपं कार्यं भवति; एवं च कार्यभेदात् भिन्नकारणानुमानं निवर्त्तते – एकस्वभावादपि विज्ञानाद् अनेकं नयनालोकादिकार्यमुत्पद्यते, अनेकस्मादपि एकं भवति। एवं च सति नियतकार्यदर्शने नियतकारणानुमानं निवर्त्तते।

अथ एकस्मादेव कारणादेकं कार्यं भवति न बहूनां संकलितानाम् एकफलोत्पादकत्वम्। ततश्च नियतकार्यदर्शने नियतकारणानुमानं केन निवार्यते? तदेतदसमीचीनम्; यद्येकं कारणम् एकं कार्यं जनयति तदाऽभ्युपगमविरोधः – "चतुर्भ्यश्चित्तचैत्ता भवन्ति, बोधाद्बोधरूपता विषयाकारता" इत्यादि।

एकमेव जनयति किम् – समानजातीयत्वेन, आहो तदाकारत्वेन, किं वा पूर्वापरकालभावित्वेन? तद्यदि समानजातीयत्वेन जनकत्वम्; तदा समानकालीनं पश्चादुत्पन्नमपि जनयेत्। अथ तदाकारानुकारित्वेन जनकम्; तत्राप्येतदेव दूषणम्। अथ पूर्वापरकालभावित्वेन जनकम्; न तर्हीदं वक्तव्यम् 'एकमेव जनकम्', चक्षूरूपालोकमनस्काराणां पूर्वकालभावित्वाऽविशेषात्। एवं च अनेकोपादानोत्पाद्यत्वेन आकारकदम्बकस्वरूपं विज्ञानं प्रसक्तम्। रूपाद्याकारपरिहारे वा विज्ञानाकारस्याप्यनुपपत्तिः। तदनुपपत्तौ नैरात्म्यप्रसङ्गः।

किंच, ज्ञानं कार्यैकस्वभावम्, कारणैकस्वभावम्, उभयस्वभावं वा? तद्यदि कारणैकस्वभावम्; तदा कार्यरूपता न संभवति, तदभावे न वस्तुत्वम्, संस्कृतानां वस्तुत्वाभ्युपगमात्। नापि कारणरूपता उपपद्यते; अनाधीयमानाऽतिशय

त्वेन जनकत्वाऽयोगात्। अथ कार्यैकस्वभावम्; तथापि न सदात्मकम्, अर्थक्रियाऽकरणे वस्तुत्वविरहात्। अथ उभयात्मकम्; एकमनेकात्मकं भवति? केन त्वं विप्रलम्भितः? नहि एकस्य अनेकनामकरणे नानातोपपद्यते। न चानेकनामका(क)रणमुपपद्यते, निमित्तस्याविचित्रत्वात्। एवं विज्ञानस्याऽसंभवे सति सन्तानानुपपत्तिः, अभ्रान्तभ्रान्तद्वैतस्याऽनुपपत्तिश्च।

[§ १६. प्रसङ्गात् बौद्धाभिमतस्य सन्तानस्य असिद्धत्वप्रदर्शनम्।]

इतोऽपि सन्तानस्याऽसिद्धिः, विज्ञानस्य एकत्वात्। तदेकत्वं च आकारान्तरस्यानुपपत्तेः, उपपत्तौ वा ज्ञानाकारविरहप्रसङ्गः। तत्प्रसक्तौ च सन्तानाऽनुपपत्तिः।

इतोऽपि विज्ञानसन्तानानुपपत्तिः – विज्ञानम् असद्रूपात् सदात्मतया निवर्त्तते, स्वरूपान्तरात्तु कथं व्यावर्त्तते? किं सदात्मतया, आहो आकारान्तरेण? तद्यदि सदात्मतया व्यावर्त्तते; तदा रूपादेः असदाकारता प्राप्नोति, वाजिविषाणयोरिव। अथ आकारान्तरेण निवर्त्तते; तदा ज्ञानस्य असत्स्वभावता प्राप्नोति, तुरगविषाणवदिति।

अथ विज्ञानाकारतया निवर्त्तते रूपादिभ्यो विज्ञानम्; सा विज्ञानाकारता सत्स्वभावा, असत्स्वभावा [वा]? तद्यदि सत्स्वभावा; तदा ज्ञानाकारतया निवर्त्तत इति किमुक्तं भवति? सदात्मतया निवर्त्तते, विज्ञान–सदाकारयोरव्यतिरेकात्। ततश्च रूपादेरसदाकारता प्राप्नोति तुरगविषाणवदिति पूर्वोदितमेव दूषणमापद्यते। अथ असत्स्वभावा; तदा खरविषाणवद् विज्ञानरूपतां परित्यजति, त्यागे विज्ञानसन्तानानुपपत्तिः, तदनुपपत्तौ चैत्यवन्दनादिक्रियाऽनर्थक्यम्।

इतोऽपि विज्ञानसन्तानानुपपत्तिः, तदुत्पादकविज्ञानस्य पूर्वापरसहोत्पन्नविज्ञानं प्रति स्वरूपाविशेषात् – यदेव पूर्वसहोत्पन्नविज्ञानापेक्षया स्वरूपं तदेव अपरविज्ञानापेक्षयापि

स्वरूपं विज्ञानस्य निरवय[व]त्वेन, ततश्च यथा पूर्वसहोत्पन्नविज्ञानस्य हेतुर्न भवति, एवम् अपरविज्ञानस्यापि हेतुर्न भवति– तत्स्वरूपव्यतिरिक्तव्यापारातिशयस्यानुपलब्धेः।

अथ पूर्वकालभाव एवातिशयः, तेन तस्य हेतुत्वमुपपद्यते; यद्येवं यथा देवदत्तज्ञानपूर्वकालभावि देवदत्तज्ञानकारणं तथा सर्वपुरुषज्ञानानां देवदत्तज्ञानकालोत्पन्नानां देवदत्तज्ञानं प्रति हेतुत्वं प्रसक्तम्; तत्प्रसक्तौ अनेकद्वीपदेशान्तरितपुरुषानुस्मृ(नुभू)तार्थानुस्मरणं स्यात्। तथा, स्वजनभुजङ्गमादौऽ(मादावन)नुभूतेऽप्यर्थेऽनुस्मरणं स्यात्। तथा, तथागतावदातज्ञानजन्यत्वे देवदत्तज्ञानानामवदातता स्यात्। ततश्च सर्वे सर्वज्ञाः स्युः। अथ नैव अवदातता देवदत्तादिज्ञानानाम्, तथागतावदातज्ञानोपादानजन्यत्वेऽपि देवदत्तादिज्ञानेनापि जनितत्वात्; तज्जन्यत्वेनैव तथागतज्ञानस्याप्यवदातरूपता न प्राप्नोति। ततश्चासावपि अवीतरागः स्यादसर्वज्ञश्च।

इतश्च सन्तानानुपपत्तिः, विज्ञानयोः सहोत्पादे हेतुफलभावानुपपत्तेः। यदैव कारणज्ञानं विनश्यति तदैव कार्यज्ञानं जायत इति वः सिद्धान्तः। कारणज्ञानस्य च विनाशः तदुत्प.द एव। ततश्च कारणज्ञानविनाशकाले कार्यज्ञ.नं भवति। किमुक्तं भवति? कारणज्ञानोत्पादकाल एव भवति। ततश्च सहोत्पन्नयोः हेतुफलभावानुपपत्तिः एककालोद्भूतयोः गोविषाणयोरिव। कारणज्ञानस्य चानुपप(नुत्प)न्नस्योत्पत्तिवद् अनुत्पन्नस्य विनाशप्रसङ्गः। ततश्च क्षणमपि नोपलभ्येत, उपलब्धौ वा सततोपलम्भप्रसङ्गः, तदात्मभूतविनाशस्य उपलम्भविघाताकर्तृत्वात्। विघातकर्तृत्वे वा एकक्षणोपलम्भस्यापि अनुपपत्तिप्रसङ्गः। अथ एकक्षणोपलभ्यस्वभावकं संजातं तेन [न] सततोपलब्धिः अनुपलब्धिर्वा; यद्येवं द्वादशाष्टक्षणोप-

लभ्यस्वभावकं संजातं किन्न कल्प्यते ? किंच, उत्पादविनाशयोरभेदे सति कार्यकारणयोः समं विनाशः स्यात् ।

यदप्यन्यदुक्तम् – "मातुरुदरनिःक्रम(निष्क्रम)णानन्तरं यदाद्यं ज्ञानं तज्ज्ञानान्तरपूर्वकं ज्ञानत्वात् द्वितीयज्ञानवत् ।" न, असिद्धत्वात् दृष्टान्तस्य, द्वितीयादिज्ञानस्यापि यथा ज्ञानपूर्वकत्वं नावगाहयितुं पार्यते तथा प्रागेव आवेदितम् । किंच, यदि(द्वि)ज्ञानत्वात् ज्ञानपूर्वकत्वानुमानम्, न किलाऽवबोधात्मककारणमन्तरेण बोधात्मकं कार्यमुपपद्यते । एतच्चावद्यम्– अबोधात्मकादपि नीलालोकलोचनादिकारणादुपजायते – तदा गर्भादौ यदाद्यं विज्ञानं तद् भूतसंघातादेव भविष्यति न ज्ञानान्तरं परिकल्पनीयम् । यस्यानन्तरं यद् भवति तत् तस्य कारणं नापरिदृष्टसामर्थ्यम्, विज्ञानाभावे विज्ञानजन्याकारता निवृत्ता न तु ज्ञानाकारता, यथा इन्द्रियव्यापारमन्तरेणोपजायमाने मनोविज्ञाने इन्द्रियजन्याकारता निवर्त्तते न तु ज्ञानाकारता ।

यदि च सदृशात् सदृशस्योत्पत्तिर्नियम्यते तदा धूमेन दहनानुमानं न प्राप्नोति, दहनस्य धूमसारूप्यमन्तरेण उपादानकारणत्वायोगात् । अथ रूपरूपता सारूप्यमुभयोरिति चेत्; तदिहापि स्वलक्षणरूपता सारूप्यं भूतविज्ञानयोः, अलं परलोकविज्ञानकल्पनया । अथ विज्ञानरूपता भूतानां न विद्यते तेन तेषामुपादानकारणत्वं नास्ति विज्ञानं प्रतीतिश्चे(प्रतीति चे)त्; इहापि धूमरूपता नास्ति दहनस्य, नोपादानकारणत्वम्, तदभावे न दहनानुमानम् ।

तथा, अनुभवज्ञानादनुभवज्ञानस्यैव निष्पत्तिरभ्युपेया उपादानकारणानुकारित्वेन कार्यस्य निष्पत्त्यभ्युपगमात् । न च एकदेशानुकारित्वमस्ति तद्बीजस्याऽविचित्रत्वात् । अनुभवा-

कारानुकारित्वे च ज्ञानाकारताविरहः स्यात्, अनुकरोति च विज्ञानरूपताम्, तेन कथं नानुभवात्मकम्? तदुपपत्तौ च प्राप्ता अनुभवपरम्परा इत्यतः स्मरणानुपपत्तिः, तदनुपपत्तौ च अनुमानज्ञानस्याप्यनुपपत्तिः, ततश्च सर्वव्यवहारविलोपप्रसङ्गश्च एवं (०प्रसङ्गः। एवं च) न सन्तानसिद्धिः, नापि सविकल्पकनिर्विकल्पकज्ञानद्वैराश्यमस्ति, नापि व्यभिचाराव्यभिचारद्वैविध्यमुपपद्यते सौगते मते ॥छ॥

[५. मीमांसकाभिमतस्य प्रत्यक्षस्य निरासः।]

तथा, "सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्" [जैमि० १.१.४]; तदपि प्रत्युक्तम्। कथम्? एतत्सूत्रं कदाचित् लक्षणपरम्, कदाचिच्च कारकसंख्याप्रतिपादनपरम्, कदाचिच्चानुवादपरम्। तद्यदि लक्षणपरम्; तदावबोधस्याव्यभिचारित्वं नावगन्तुं पार्यते – नादुष्टकारणजन्यत्वेन, नापि प्रवृत्तिसामर्थ्येन, नापि बाधारहितत्वेन, नान्यथा वा – सर्वं पूर्वोदितमनुस्मृत्य वक्तव्यम्।

नापि इन्द्रियार्थसम्प्रयोगजत्वं विज्ञानस्यावबोधस्य चार्वाग्भागविदावगम्यते, तदतीन्द्रियत्वेन तदायत्तताऽनधिगतेः। नापि इन्द्रियजन्यत्वमवगन्तुं पार्यते, इन्द्रियाणामतीन्द्रियत्वादेव। अथ अवबोधान्यथानुपपत्त्या सन्निकर्षपरिकल्पना क्रियते; अवबोधस्य अन्यथानुपपत्तिर्न भवति काऽनुमा?

अथ कारकसंख्यार्थम्; किं तेन परिसंख्यातेन प्रयोजनम्? आलोकादीनामपि कारकत्वात् तान्यपि परिसंख्येयानि भवन्ति।

अथ अनुवादपरता; प्रसिद्धस्यानुवादो नाऽप्रसिद्धस्य। नच अध्यक्षं क्वचिद्विदितम्। ननु लोके विदितम्; 'न विदि-

तम्' इति ब्रूमः, अव्यभिचारितयाऽनवगतेः । नापि सत्संप्रयोगजत्वं विदितम्, ततश्च प्रत्यक्षानधिगतिः, तदनवगतौ चानुवादानुपपत्तिः ।

इतोऽप्यनुवादानुपपत्तिः प्रयोजनाभावात् । नहि प्रयोजनं विना अनुवादः प्रवर्त्तते, अनूद्य क्वचित् किंचिद्विधीयते प्रतिषिध्यते वा ।

नन्वत्रापि धर्मं प्रति निमित्तत्वं प्रतिषिध्यते । तदुक्तम्—"धर्मं प्रत्यनिमित्तं प्रत्यक्षं विद्यमानोपलम्भनत्वात् सम्प्रयोगजत्वाच्च ।" तत्र किम् अन्यपदार्थावभासोत्पन्नं प्रत्यक्षं धर्मं प्रति निमित्तत्वेन प्रतिषिध्यते, किं वा धर्मावभासोत्पन्नम्, अनुत्पन्नं वा ? तद्यदि अन्यपदार्थावभासोत्पन्नप्रत्यक्षव्यावृत्तिः क्रियते; तदाऽविप्रतिपत्त्या संबोधयितव्या जडमतयः ।

अथ धर्म्य(र्मा)वबोधकोत्पन्नप्रत्यक्षव्यावृत्तिः क्रियते; तदा विरोधेन प्रत्यवस्थेयो भवति – धर्मावबोधकोत्पन्नं प्रत्यक्षम्, न च धर्मनिमित्तम् इति व्याहतमपदिश्यते, अन्यथा चोदनावचनजनितविज्ञानस्यापि धर्मावबोधकत्वेन उत्पन्नस्यातन्निमित्तत्वं स्यात् । अथानुत्पन्नस्य धर्मावबोधकत्वं नास्ति; केनात्र प्रतिपद्यते – यन्नोत्पन्नं तद् धर्मावबोधकम् ? नापि कमलदलावबोधकं स्वयमसत्त्वात् ।

यदप्युक्तम् – 'सत्संप्रयोगजत्वात्' इति, तदप्ययुक्तम्; सत्संप्रयोगजत्वं यथा न भवति तथा प्रागेवोक्तम् ।

यदप्यन्यदुक्तम् – "विद्यमानोपलम्भनत्वात् किल प्रत्यक्षं विज्ञानं विद्यमानमवबोधयति"; यद्येवं न केवलं प्रत्यक्षम् अपि तु सर्वप्रमाणोत्पादितं विज्ञानं विद्यमानावबोधकम् ।

अथ चोदनाजनितं विज्ञानम् अविद्यमानकर्त्तव्यार्थावबोधकम्; यद्यविद्यमानम्; कथमवबोध्यते ? अथ अवबोध्यते;

कथमविद्यमानता ? अवबोध्यमानत्वेनैव विद्यमानता प्रत्यक्षप्रमाणावबोधितार्थवदिति । नाध्यवबोधनमवबोध्यमन्तरेण उपजायते प्रत्यक्षावबोधनवत् ।

अपि च चोदनावचनजनितविज्ञानस्य मिथ्यात्वमुपपद्यते, अविद्यमानविषयत्वात् केशोण्डुकज्ञानवत् । केशोण्डुकविज्ञानस्यापि प्रतीयमानोपकारकार्थाभावे मिथ्यात्वम्, तदिहापि प्रतीयमानोपकारकार्थो [ना]स्त्येव, कथं न मिथ्यात्वम् ? तदन्वये वा कर्त्तव्यार्थविषयत्वं प्रतिहीयेत चोदनावचसः ।

किंच, चोदनाजनितं विज्ञानं कर्त्तव्यतार्थविषयं वा, तदभावविषयम्, निर्विषयं वा ? तद्यदि कर्त्तव्यतार्थविषयम्; तदा तस्य वर्त्तमानतैव प्रतीत्युत्कलितत्वाद् विद्यमानतोयादिवत् । { [1]तोयादेरप्रतीयमानत्वं स्वसत्ताधूमादग्नौ सति जनकत्वादिना निमित्तेन } एतच्चेद् विद्यते; कथमविद्यमानता ? अथ तदभावविषयम्; तस्यापि स्वेन रूपेण विद्यमानत्वात् न कर्त्तव्यता । अथ निर्विषयम्; न तर्हि चोदना कर्त्तव्यावबोधिका अपि तु निर्विषया इत्येवं वक्तव्यम् । एवंस्थिते यथा प्रत्यक्षं विद्यमानोपलम्भकं तथा अन्यान्यपि प्रमाणानि ।

बुद्धिजन्म प्रत्यक्षम्, नच बुद्ध्यवगमे प्रमाणमस्ति । प्रत्यक्षावसेया सा न भवति, स्वयमनभ्युपगमात् । अनुमानगम्यापि न भवति, तया प्रतिबद्धलिङ्गानवगतेः ।

अथ अर्थापत्त्या प्रतीयते; किम् – घटार्थान्यथानुपपत्त्या, आहो तदुपादानपरित्यागान्यथानुपपत्त्या, घटावबोधान्यथानुपपत्त्या वा ? तद्यदि घटार्थान्यथानुपपत्त्या; तदयुक्तम्, न बुद्धिकार्यो घटः, अपि तु बुद्धिरिह तत्कार्या । अथ घटोपादानपरित्यागान्यथानुपपत्त्या बुद्धिपरिकल्पना क्रियते; तदयु-

१. कोष्ठकगतः पाठोऽप्रस्तुतो भाति ।

क्तम्, बुद्धिस्वरूपस्यानेककालान्तरावस्थानायोगात् अर्थापत्ते- र्निर्विषयत्वम् । केनापि बलवता प्रेरितो बुद्धिमन्तरेण वा तदु- पप्लवाद्वा घटोपादानपरित्यागाय घटते तेन संदिग्धाऽर्थापत्तिः । नच सम्बन्धग्रहणमन्तरेण नियतायां बुद्धौ प्रतिपत्तिरुपपद्यते। अर्थापत्तितस्तु तदनुपपत्तौ इन्द्रियकल्पनापि दुर्घटा ।

अथ अवबोधान्यथानुपपत्त्या बुद्धिपरिकल्पना क्रियते; तस्यापि बुद्ध्या सह सम्बन्धो नास्ति, कथमवबोधयति ? अव- बोधे चावगते प्रत्यक्षावगतैव बुद्धिः नावबोधगम्या, अवबोध- बुद्धि-विज्ञानशब्दानां पर्यायत्वाद् अवबुध्यते ज्ञायत इत्ये- कोऽर्थः ॥ छ ॥

[६. सांख्यसंमतस्य प्रत्यक्षलक्षणस्य निरसनम् ।]

तथा " श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका " एतदपि प्रत्युक्तम्; श्रोत्रादिका(क)रणानां शब्दादिविषयाकारतया विपरिणामो वृत्तिशब्देनाभिधीयते । सा चानेकप्रकारा भवति - सम्य- ग्ज्ञानरूपा विपर्ययज्ञान-संदेहरूपा च । तदुक्तम्-

" तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्रः।" इत्यादि ।

तद्यदि श्रोत्रादिवृत्तेः प्रत्यक्षत्वम्; तदा विपर्ययादिवृत्ते- रपि प्रत्यक्षत्वं प्राप्नोति । अथ अबाधितपदोपादानं क्रियते; तत् सूत्रे न श्रूयते । भवतु वा तस्य कल्पना, तथापि अव्य- भिचारित्वं ज्ञातुं न शक्यते । तच नैयायिकप्रत्यक्षलक्षणाधि- कारे प्रपञ्चितम् । यदि च अव्यभिचारिपदेन विपर्ययरूपा वृत्ति- रपोद्यते तत् तदात्मतया व्यवस्थिता सम्यग्रूपापि वृत्तिरपो- दिता भवति । ततश्च संग्राह्या न लभ्यते वृत्तिः ।

अथ सम्यग्रूपा वृत्तिरिह संग्राह्या; तदाऽपोह्या न लभ्यते, वृत्तीनां स्वरूपैकताभ्युपगमात् । भेदानभ्युपगमे च अभ्युपेतहानम् । नहि भवतां पक्षे इन्द्रियाद् भिद्यन्ते वृत्तयः ।

तच्चेदभिन्नम्, कथं वृत्तीनां भेदः? भेदाभ्युपगमे इन्द्रियैकत्वं हीयते। इन्द्रियाव्यतिरेकित्वं न वक्तव्यम्। इन्द्रियाव्यतिरेकित्वेऽभ्युपगम्यमाने नीललोहितघटादीनां सर्वदा उपलम्भः स्यात्, इन्द्रियावस्थाने तदव्यतिरिक्ताया वृत्तेः अवस्थानसंभवात्, तत्संभवे च घटाद्यनुपलम्भानुपपत्तिः।

अथ वृत्तिसद्भावेपि अनुपलब्धिः; न कदाचिदुपलब्धिः स्यात्, नहि भवतां पक्षे किंचिदपूर्वं जायते पूर्वं वा निरुध्यते। ततश्च सर्वस्याऽस्तित्वे उपलब्ध्यनुपलब्धी किंकृते? सदोपलब्धिरनु[प]लब्धिर्वा। नह्येवं वादिनो द्वितीया गतिरस्ति।

किंच, शब्दादय उपलभ्यन्ते किम् – अनुपलभ्यस्वभावा उपलभ्यन्ते, आहोस्विदुपलभ्यस्वभावा(वाः)? तद्यदि अनुपलभ्यस्वभावा उपलभ्यन्ते; तदा उपलब्धिः कथम्? यदि अनुपलभ्यस्वभावाः, कथम् उपलभ्येरन्? अन्यथा आत्मादेरप्युपलब्धिः स्यात्।

अथ उपलभ्यस्वभावा उपलभ्यन्ते; अनुपलब्धिः कथम्? किं तेनैवाकारेण, आहोस्विद् आकारान्तरेण? यदि तेनैव आकारेण अनुपलब्धिः; आत्मादेरपि अनुपलब्धिर्न प्राप्नोति, उपलब्धौ वा बीजान्तरं वचनीयम्। अथ आकारान्तरेण नोपलभ्यन्ते; तथापि उपलभ्यमाना–ऽनुपलभ्यमानयोः नैकत्वम्, शब्दात्माकारयोरिव, नहि उपलभ्यस्वभावाच्छब्दादनुपलभ्यस्वभाव आत्माऽव्यतिरिक्तो दृष्टः।

अथ तस्यैवाऽभिव्यक्तस्योपलब्धिः; तत्स्वरूपवदभिव्यक्तेः सर्वदानव(०दाव)स्थानात् सततोपलब्धिप्रसङ्गः। अथ तिरोधाने सति अनुपलब्धिः; तदा तत्स्वरूपतादात्म्यात् सततानुपलम्भप्रसङ्गः, उभयोर्वाऽवस्थाने सममुपलम्भाऽनुपलम्भौ

स्याताम् । ततश्च – ‘इदानीमुपलभे पूर्वं नोप(पा)लभे’ इति व्यवहारविरहः स्यात् । तथा, ‘पूर्वमुप(पा)लभे इदानीं नोपलभे’ इत्येतदपि न प्राप्नोति ।

अथ अवयवोपचये सति उपलम्भः; तस्य सर्वदा भावात् सर्वदोपलम्भप्रसङ्गः । अथ स्वलक्षणपुष्टौ सत्यामुपलम्भः; तस्याः सर्वदा सत्त्वात् सततोपलम्भप्रसङ्गः । अथ संस्थानोत्कर्षे सत्युपलम्भः; तस्यापि सर्वदा विद्यमानत्वात् सततोपलब्धिः स्यात् । तस्माद् येन येन निमित्तेन उपलम्भपरिकल्पना, तस्य तस्य सर्वदा भावात् सततोपलम्भप्रसङ्गः । अथ देशकालकारकापबन्धादनुपलम्भः; तदा तस्यापबन्धस्य सर्वदा भावाद् अनुपलम्भाऽनुपरमः स्यात् ।

तथा, इन्द्रियाणामपि करणरूपता नोपलभ्यते फलवैकल्यात् । ननु अस्ति विज्ञानं फलम्; न, तस्य सर्वदा विद्यमानत्वात् । सर्वदा विद्यमानयोः हेतुफलभावो नोपपद्यते, यथा गुणानां परस्परमात्मभेदानां वा । नहि आत्मा आत्मान्तरस्य हेतुर्भवति तत्फलं वा, तथा इहापि अनाद्यन्ता सत्ता न फलं हेतुर्वा उच्यते ।

किंच, भूजलादि अनेकं कार्यम् – तत्किं गुणत्रयाद् व्यतिरिक्तम्, अव्यतिरिक्तं वा? तद्यदि व्यतिरिक्तम्; तत्किं तात्त्विकम्; अतात्त्विकं वा? तद्यदि तात्त्विकम्; न तर्हि गुणत्रयोपादानपूर्वकम्, ततो भिन्नत्वाद् आत्मस्वरूपवत् । न च गुणत्रयेण सह अन्यतमोऽपि सम्बन्ध उपपद्यते तद्भिन्नकार्यस्य । न मात्रामात्रिकसम्बन्धः, नापि सहचरसहचरि[त]भावः, नापि निमित्त–नि(नै)मित्तिकभावः, उपकार्योपकारकभावो वा ।

अथ अतात्त्विकम्; कथं तेन गुणत्रयं प्रतीयते, गुणत्रयेण सह सम्बन्धानुपपत्तेः? नच सदसतोः सम्बन्ध उपपद्यते आत्मखरविषाणयोरिव । तदभावात् नानुमानाद् गुणत्रयप्रति-

पत्तिः । नापि प्रत्यक्षेण गुणावधारणम्, स्वयमनभ्युपगमात् । तदुक्तम् –

"गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।
यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ॥"

तदनवगमे च न भोग्येन भोक्तुरनुमानम् । ततश्च नात्मा, न गुणत्रयम् ।

अथ अव्यतिरिक्तम्; तत्किम् – तात्त्विकम्, अतात्त्विकम् वा ? यदि तात्त्विकम्; तदा कार्याणामपरिसंख्येयत्वे गुणानामप्यपरिसंख्येयता । ततश्च 'त्रयो गुणाः' इति न वक्तव्यम् । अथ गुणानां त्रित्वम्; तदा कार्यस्यापि त्रित्वं प्राप्नोति, आनन्त्यं हीयते । तथा, कार्यस्य प्रत्यक्षत्वे गुणानामपि प्रत्यक्षत्वम् । किंविषयं प्रधानानुमानम्? गुणत्रयं प्रधानम्, तच्च उपलब्धम् अलम् अन्वयशक्तिपरिमाणवैश्वरूप्योपकार्योपकारकादिसाधनेन । अथ नोपलभ्यते प्रधानम्; तदव्यतिरिक्तं कार्यमपि नोपलभ्येत, तदभावान्न पुरुषसिद्धिरुपपद्यते ।

अथ अतात्त्विकम्; तदा गुणत्रयस्यापि अतात्त्विकत्वम् । तदभावात् न चित्सिद्धौ प्रमाणमस्ति । तदसिद्धौ परलोकिनोऽभावात् परलोकाभावः । तदेवं प्रत्यक्षं नोपपद्यते ॥ ६ ॥

[७. नैयायिकाभिमतस्यानुमानस्य निरसनम् ।]

अथ इदानीमनुमानं विचार्यते – किं पुनरनुमानम्? "तत्पूर्वकमनुमानम्" [न्यायसू० १.१.५] कथम्? कथ्यते – रसवतीप्रदेशे नयनादिव्यापारेण दहनधूमयोः सम्बन्धावधारणं क्रियते, तेन च संस्कारः, तदुत्तरकालं द्वितीयलिङ्गदर्शनम्; तदनन्तरं व्याप्तिस्मरणम्, व्याप्तिस्मरणानन्तरं परामर्शज्ञानमनुमानं लिङ्गसचिवम् ।

तद्भावे तस्याभावः तत्पूर्वकत्वात् । नहि कारणं विना कार्यं लोके भवद् दृष्टम्, प्रत्यक्षं च कारणं गीयते तदभावात् कथमनुमानकॢप्तिः, कॢप्तौ वा कार्याऽकस्मिकत्वप्रसङ्गः । प्रत्यक्षाभावमङ्गीकृत्य उक्तम् – "अविनाभावसम्बन्धस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात् ।"

इतोपि अविनाभावसम्बन्धग्रहणानुपपत्तिः – किं सामान्ययोः सम्बन्धावधारणम्, आहो स्वलक्षणयोः, सामान्यस्वलक्षणयोर्वा ? तद्यदि सामान्ययोः सम्बन्धावधारणम्; तदयुक्तम्; सामान्यानुपपत्तेः । तदनुपपत्तिश्च प्रागेवोपपादिता । नापि सामान्यस्वलक्षणयोः, सामान्यासंभवादेव ।

नापि स्वलक्षणयोः; दहनधूमव्यक्तीनामानन्त्यात्, अभिन्नानेकानुगामिनिमित्ताऽसंभवाच्च । तद्भावेऽपि आनन्त्यस्याऽनतिवृत्तेः, अतिवृत्तौ वा भावाभावप्रसङ्गः, तत्प्रसक्तौ च वद इदानीं कस्य सम्बन्धावधारणम् ?

देशकालस्वभावविप्रकर्षाच्च न व्यक्तीनां सम्बन्धावधारणाय अलं प्रत्यक्षम् । न च सम्बन्धिग्रहणमन्तरेण सम्बन्धबुद्धेरुपपत्तिः तदधिकरणत्वात् सम्बन्ध–तद्बुद्ध्योः । न च सम्बन्धग्रहणसमये सर्वे सम्बन्धिनोऽवभान्ति, अप्रतिभासनात् । न च अप्रतीयमानस्य प्रतीयमानत्वं कल्पयितुं न्याय्यम्, अतिप्रसङ्गात् । अन्यथा हि रासने विज्ञाने रसे प्रतीयमाने रूपमपि कल्प्यं स्यात् ।

अथ अविनाभावसम्बन्धग्रहणकालोपलक्षितकतिपयव्यक्तीनां सम्बन्धावधारणम्, न सर्वासामिति चेत्; यद्येवं तासामेव गमकत्वं नान्यासाम् । नहि अन्यस्य सम्बन्धे अन्यस्य गमकत्वमस्ति, अतिप्रसङ्गात् । न जातु देवदत्तनयनघटसम्बन्धे जाते जलादौ ज्ञानमुत्पद्यते नियतदेशकालस्वभावाऽ-

१ त.

योगित्वात्[1] स्वभाव .... स्यात्। आत्मान्यत्वे च अन्यस्य सम्बन्धे अन्यस्याऽगमकत्वम् तदाकारव्यतिरेकात्[2]। अव्यतिरेके[3] वा पर्वते नैकबलक्‌ .... धूमाकारानुप्रवेशप्रसङ्गः स्यात्। तदनुप्रवेशे च[4] न तत्संवित्त्यानुमेया[5] अग्निसंवित्तिरुपपद्यते, नालिकेरद्वीपवासिन इव तयोः[6] सम्बन्धानवगतेः। तदनवगतिश्च[7] अनुमेयदहनस्य पिशाचेश्वरतुल्यत्वात्[8]। पावकसम्बन्धिसंवित्तौ[9] सम्बन्धबुद्धेरुपपत्तिरतिप्रसङ्गात्[10][11]। तस्माद् धूमा[12] .... लिङ्गावगम इवा .... तात्त्विकया दृष्ट्यां[13] न केनाप्युत्पाद्यते[14] इति किन्न कल्प्यते[15] धूमबलेन .... धूमधूमस्वरूपं[16] किमधुनोत्पन्नम्, चिरोत्पन्नम्, कारणाद्वा जातम्, आकस्मिकम् .... मात्रावद्योतकत्वेन पर्यवसिते आकस्मिकमपि स्वरूपमुपपद्यते जगतो वैश्वरूप्यदर्शनात्। अथ आकस्मिकत्वे नियतदेशकालसम्बन्धित्वं न लभ्यते; तन्न युक्तम्, तत्स्वभावस्य तस्योत्पत्तेराकस्मिकनियतदेशकालसम्बन्धाभावानवगतेः। एवंभूतं तत् कारणं विनोत्पन्नं यत् नियतदेशकालप्रतिष्ठितदेहम्। एवं च स्थिते धूमोपलम्भे सति नानुमेयाग्निप्रतिपत्तिः, अनुपलम्भात्।

[§ १. कार्यहेतुकानुमाननिरासाय कार्यत्वस्य खण्डनम्।]

इतोऽपि नानुमेयप्रतिपत्तिः, धूमस्य कार्यरूपत्वाऽसंभवात्। तदनुपपत्तिश्च सत्ताविच्छेदस्यानवगतेः। ननु प्रत्य-

---

१. त् स्वभाव – धृष्टम्। २. व्यतिरे – धृ०। ३. रेके वा पर्वते नैकवलक्‌ – धृ०। ४. च न तत् सं – धृ०। ५. मेया – धृ०। ६. सम्बन्धानवगतेः। तदन – धृ०। ७. ति – धृ०। ८. त्। पाव – धृ०। ९. वित्तौ – धृ०। १०. बुद्धेः – धृ०। ११. तिप्र – धृ०। १२. मा – धृ०। १३. दृष्ट्य न – धृ०। १४. प्युत्पाद्यते – धृ०। १५. ल्प्यते धूमबलेन – धृ०। १६. धूमधूमस्वरूपं किमधुनात्पन्नं चिरोत्पन्नं कारणाद्वा जातमाकस्मिक – धृ०।

क्षेणैव अवगम्यते; किं तत् प्रत्यक्षं विधिमुखेन उपजायते, आहो प्रतिषेधमुखेन? तद्यदि विधिमुखेन उपादीयते; तत्किं धूमविषयम्, आहो अन्यविषयम्, निर्विषयं वा? तद्यदि धूमविषयम्; तदा तत्स्वरूपावगाहिना तत्स्वरूपास्तित्वं विधीयते न तत्स्वरूपखण्डना। अथ अन्यविषयम्; न तर्हि तेन तस्य खण्डना विधीयते तत्स्वरूपवत्, अपि तु यद् यद्विषयं तत् तस्यैवाऽस्तित्वं विदधाति। अथ निर्विषयम्; न तर्हि तत् किंचिद् विदधाति नापि प्रतिषेधति मूकान्धबधिरतुल्यत्वात्।

अथ प्रतिषेधमुखेन उपादीयते; तदपि किं धूमविषयम्, आहो अन्यविषयम्, निर्विषयं वा? तद्यदि धूमविषयम्; तदा तत्सत्तोपनिबद्धं तत्स्वरूपास्तित्वविधायकं न तु व्यावर्त्तकम्। अथ अन्यविषयम्; अन्यविषयपर्यवसायिना न तत्सत्ताखण्डना अवद्योत्यते तत्सत्तावत्। अथ निर्विषयम्; न तत् किंचिद्विदधाति नापि प्रतिषेधति मूढात्मतयोत्पत्तेः।

अथ सत्ताविच्छेदो हि प्रध्वंसः, सोऽनेन आत्मसात् क्रियते; नेदं चतुरस्रं वचः। प्रध्वंसो हि विषयान्तरम्, तत्रोत्पन्नं विज्ञानं तत्स्वरूपास्तित्वविधायकं न तु कस्यचित् प्रतिषेधकम्। तस्मिंश्च संवेद्यमाने न कस्यचित् खण्डनाऽवगम्यते स्वविषयपर्यवसायीनि विज्ञानानि स्वविषयास्तित्वविधानपराणि। का कस्य खण्डना?

अथ प्रध्वंसज्ञाने धूमस्वरूपं न प्रतिभाति, तेनासौ तस्य खण्डना इति चेत्; यद्येवं त्रैलोक्यस्य खण्डना, तस्मिन् धूमध्वंसज्ञाने त्रैलोक्यं नावभाति, त्रैलोक्यात्मको वा न भवति ध्वंसः।

[§ २. प्रसङ्गात् विरोधपदार्थस्य विकल्प्य दूषणम्।]

अथ धूमविरोधित्वेन असौ धूमस्य खण्डना इति चेत्; कः पुनरसौ विरोधार्थः? किम् – अतदाकारता, आहो असमान-

कालीनता, तत्सद्भावे तस्यानुपलम्भो वा, तज्जन्यता वा, तज्जनकत्वं वा, भिन्नक्रियाकर्तृत्वं वा, भिन्नहेतूत्पाद्यत्वं वा, आश्रितानाश्रितत्वं वा ?

तद्यदि तावद् अतदाकारता विरोधः; तदा त्रैलोक्यस्य सा खण्डना, न केवलं धूमस्य, त्रैलोक्याकारपरिहारेण तत्स्थितेः। अथ असमानकालीनता विरोधार्थः; तदा अतीतानागतवर्त्तमानकालानामन्योन्यविरोधित्वप्रसङ्गः। न चासना-(चासमान)कालीनता स स्वभावेन उभयोः स्वभावोपपत्तेः।

अथ तत्सद्भावे तस्यानुपलब्धिः विरोधार्थः; तदा अतिदूरादिनिमित्तोपनिपाते सति तदनुपलब्धिर्दृष्टा, नच तेषां तत्खण्डनात्मता। तथा, दीपाभावे घटधूमादेरनुपलब्धिर्दृष्टा, न च सा घटधूमादेः सत्ता खण्डिता।

अथ दूरादिनिमित्तोपनिपाते यत्रानुपलब्धिर्दृष्टा तत्रोपलब्धिरपि पुनर्दृष्टा, इह तु पुनः ध्वंसे संजाते न जातु धूमकुम्भादेरुपलब्धिरस्ति। केन नोपलभ्यते? किं केनापि, आहो सर्वज्ञातृभिः? तद्यदि केनापि नोपलभ्यते, तेन तदा तस्य स्वरूपखण्डना; तदयुक्तम्, दूरा[व]रणादिनिमित्तोपनिपाते सति यथैके तमर्थं न पश्यन्ति अपरे पश्यन्ति, एवं सति संजाते ध्वंसे तमर्थम् एके नोपलभन्ते अन्ये तु उपलप्स्यन्त इति।

अथ सर्वज्ञातृभिर्नोपलभ्यते; कानुमा? 'एतदनुभवविकलाः सर्वे ज्ञातारः'; न मानमस्ति, परचित्तवृत्तीनां दुरन्वयत्वात् बुद्धिवैचित्र्यस्य च उपपत्तेः।

ध्वंसे सति अनुपलब्धिः किं – नियतदेशकाले, सर्वदा वा? तद्यदि नियतदेशकाले अनुपलब्धिः; तदा न सत्तापगमोऽवगम्यते, सिद्धसाध्यतया च बोद्धव्याः। अथ सर्वदेश-

काले नोपलभ्यते; तदयुक्तम्, न नियामकं किंचिद् बीजमस्ति, न च बीजमन्तरेणाभ्युपगमो युक्तः ।

अथ ध्वंसे सति सर्वोपाख्यारहितत्वे कथं वस्तुत्वसंस्थितिः ? कदा सर्वोपाख्यारहितत्वम् ? किम् उपलब्ध्यवस्थायाम्, आहो अनुपलब्ध्यवस्थायाम् ? तद्यदि उपलब्धिमधिकृत्योच्यते; उपलभ्यते च सर्वोपाख्यारहितत्वं च इति चित्रम् ।

अथ अनुपलब्ध्यवस्थामङ्गीकृत्योच्यते सर्वोपाख्यारहितत्वम्; तदयुक्तम्, दूरावरणादिनिमित्तोपनिपाते सति अनुपलब्धौ सर्वोपाख्यारहितत्वं सत्त्वं च इत्यनेकान्तः । यदि च ध्वंसे सति अत्यन्तानुपलम्भः; अनुपलम्भप्रपञ्चोऽयं न तत्स्वरूपस्यातावद(तादव)स्थ्यम्, आवरणादिकृतानुपलम्भे यथा ।

तज्जन्यता विरोधार्थः; तदा दण्डादिनापि जनितत्वात् तद्विरोधित्वप्रसङ्गः । न च व्यापारातिशयोऽस्ति, तं प्रति क्रियातिरेकस्य अनुपलब्धिः(ब्धेः) । अथ तज्जनकत्वं विरोधार्थः; तदयुक्तम्, न घटधूमात्मा तद् ध्वंसोत्पाद्यः तैरेव अनभ्युपगमात् । यदि च तज्जनकत्वेन विरोधित्वम्; तदा अभावज्ञानस्य अभावो विरोधी स्यात् ।

अथ भिन्नार्थक्रियाकर्तृत्वम्; तदा सर्वे सर्वस्य विरोधिनः प्राप्नुवन्ति । अथ भिन्नहेतूत्पाद्यत्वं विरोधार्थः; तदयुक्तम्, एकेन देवदत्तेन कुम्भ–तद्विच्छेदयोरुत्पद्यमानत्वात् । यदि च नियतहेतूत्पाद्यत्वेन विरुद्धत्वं जेगीयते सदसतोः; तदा सर्वे भावा नियतसामग्र्या उत्पाद्या अन्योन्यविरोधिनो भवेयुः । नित्यानित्याकारयोर्विरोधप्रसङ्गः, नित्याकारस्य निर्बीजत्वात्, बीजवत्त्वे वा नित्यतैव न स्यात् ।

अथ आश्रितानाश्रितत्वं विरोधार्थः; तदा आत्मज्ञानयोः विरोधित्वमापनीपद्यते, कुम्भापगमस्य सर्वविरोधित्वं प्रा-

प्नोति, आश्रितानाश्रितत्वस्याऽविशेषात्। न च सम्बन्धमन्तरेण षष्ठी सम्पद्यते, अपि तु सम्बन्धे सति देवदत्तनयनतुरगव्यपदेशो यथा। अथ सम्बन्धमन्तरेण कुम्भाभावव्यपदेशोऽभ्युपगम्यते; तदाऽस्तं गतं विश्वं स्यात्, सम्बन्धाभावस्याऽविशेषात्।

[§ ३. हेतुफलसंबंधावधारणस्यानुपपत्तिप्रकटनम्।]

इतोऽपि हेतुफलसम्बन्धावधारणं नोपपद्यते–किं निरुपचरितकारणग्रहणानन्तरं गृह्यते कार्यम्, आहोस्विद् उपचरितकारणग्रहणानन्तरम्? यदि निरुपचरितकारणग्रहणानन्तरं गृह्यते; तदयुक्तम्, सामग्र्या अतीन्द्रियत्वेन संवेदनायोगात्। अथ उपचरितकारणानन्तरीयकत्वेन तद् गृह्यते तेन तस्य तत् फलम्; तदयुक्तम्, उपचरितस्य कारणत्वमेव न विद्यते कथं तत् फलतां याति।

अन्यच्च, तन्तूनां कार्यं वस्तूं(स्त्रं) किम् – पूर्वापरकालभावित्वेन, आहो पूर्वापरग्रहणेन? तद्यदि पूर्वापरकालभावित्वेन; तदा नियतकारणकार्यत्वं न लभ्यते अम्बरफलस्य, तत्समानकालीनाऽनेककार्योत्पादकानां तत्पूर्वापरकालभावित्वाविशेषात्।

अथ अन्वयव्यतिरेकयुक्तस्य यस्य पूर्वकालभावित्वं तत्कारणं तदस्ति, ध्रुवभाविकार्यदर्शनात्। अन्वयव्यतिरेकशब्देन किमभिधीयते? किम् – कारणम्, अन्यद्वा? तद्यदि कारणम्; तदा न किंचिद् बाध्यते कारणात्मतया तत्कारणम्। अथ अन्यत् तत्; न जानीमः किं तद् इति? न च पूर्वापरभावः सिद्धोऽत्र ज्ञानमन्तरेण। ज्ञानं विना न जाने किं सहोत्पन्नौ, पूर्वापरभावोत्पन्नौ वा, अनुत्पन्नौ वा?

अथ पूर्वापरग्रहणक्रमेण पूर्वापरोत्पाद–तदभावव्यवस्था इति चेत्; तदेतदपि ग्रहणेऽपि तुल्यम्। सती सत्ता संवेद्यते

नाऽसती । सहोत्पन्नयोरपि क्रमेण ग्रहणं दृष्टं गोविषाणयोः । अनुत्पन्नयोश्च गोत्वाऽस्तित्वयोः । तथा, पटग्रहणानन्तरं तन्तूनां ग्रहणं दृष्टम् । तथा, एकमेव ग्रहणं दृष्टम्, न च तयोर्भेदोऽस्ति, न च तयोर्हेतुफलभावः । यथा च भेदो नास्ति तथाप्रागेव प्रपञ्चितम् । एवं संवेदनमपि संवेद्यात् न भिद्यते सदाकारतया, न च तयोः आकारान्तरमस्ति, एकं हि वस्तु ।

इतोऽपि हेतुफलयोर्विज्ञानं न वेदनम्, यथा उत्पन्नं विज्ञानं स्वसंवेदनं न भवति, विज्ञानाकारातिरिक्ताकारान्तरविरहात् । अथ क्रियातिरेकापायेऽपि स्वसंवेदनमपदिश्यते; अस्वसंवेदनं किं न व्यपदिश्यते, क्रियातिरेकाभावस्याऽविशेषात् ?

तथा, अर्थस्यापि न तद्वेदनम् । अथ कथं तत् अर्थस्य वेदनं न भवति ? कथ्यते—तत् सत्तामात्रेण अर्थस्य वेदनम्, तज्जन्यतया वा ? तद्यदि सत्तामात्रेण अर्थस्य वेदनम्; तदा विश्वस्य तद्वेदनं स्यात् तद्देहाविशेषात् । अथ तज्जन्यतया तत्संवेदनमुद्गीयते; तदा नयनालोकेश्वरादेरपि तत् संवेदनमापद्यते, तैर्जन्यमानत्वोपपत्तेः । न चार्थस्य व्यापारातिरेकोऽस्ति, क्रियातिरेकस्यानधिगतेः । व्यापारातिरेके हि नियतफलोऽर्थः स्यात् । भवतु; न, अदृष्टत्वात्, एकं हि इदं फलं कारककदम्बसम्पाद्यम् । ततश्चार्थसंवेदनवत् तत्सर्वकारकसंवेदनत्वप्रसङ्गः । अथ कारकान्तरस्य न तत् वेदनम्; अर्थस्यापि न तत् वेदनम् । तदभावान्न हेतुफलभावावगमः । तदनवगतौ च न कार्यं दृष्ट्वा कारणं प्रत्येति ।

अपि च, कार्यं दृष्ट्वा किमयम् अनुमाता कारणं स्मरति, आहो प्रत्येति ? तद्यदि स्मरति; तन्नाननुभूतं स्मर्त्तुमीशः ।

अथ प्रत्येति; तत्रापि किम् उपचरितं प्रत्येति, आहो निरुपचरितम् ? तद्यदि उपचरितं प्रत्येति; तदयुक्तम्, तेन सह सम्बन्धानुपपत्तेः, अकारकत्वेन गमकत्वानुपपत्तेः ।

अथ निरुपचरितं प्रत्येति; तत्रापि किम् – विद्यमानम्, अविद्यमानं वा? तद्यदि विद्यमानम्; तदयुक्तम्, जनकत्वयोगेन जनकमपदिश्यते, यथा दण्डयोगेन दण्डी, द्रव्यत्वयोगेन द्रव्यम्। न भवतां पक्षे जनकत्वयुक्तस्य अनेककालान्तरावस्थानमस्ति, कार्यानेकत्वप्रसङ्गात्। अथ जनकत्वे सत्यपि न जनयति; सर्वदैवाऽहेतुः स्यात्। अथ अविद्यमानं प्रत्येति; अविद्यमानम्, प्रत्येति च इति चित्रम्।

किंच, कार्यं दृष्ट्वा कारणं प्रत्येति, आहो कारणपूर्वकत्वम्, कारणपूर्वकं वा कार्यम्। तद्यदि कारणं प्रत्येति; तदा एतदापद्यते – अस्ति कारणं कार्यात्, यथा अस्ति आत्मा काकस्य कार्ष्ण्यात्।

अथ तत्कारणपूर्वकत्वं कार्यस्यानुमीयते; तत्कारणपूर्वकत्वम् – स्वकारणसत्तासम्बन्धः, सत्ता वा, धर्मान्तरं वा? तद्यदि स्वकारणसत्तासम्बन्धोऽनुमीयते; तदयुक्तम्, तस्य प्रत्यक्षविषयत्वात्। न च प्रत्यक्षेण अवगम्यमाने अनुमानं न्याय्यम्, हेतावप्यनुमानप्रसङ्गात्। तदुक्तम् – "सामान्ये सिद्धसाध्यताम्(ता), सामान्यं समानता प्रत्यक्षानुमानविषयत्वेन अर्थस्य।"

अथ सत्ताऽनुमीयते; साऽपि प्रत्यक्षेणावगम्यते अलमनुमानेन। इहाप्येतद् द्रष्टव्यम् – 'सामान्ये सिद्धसाध्यता'। अथवा सिद्धस्य विद्यमानस्य साधनम् सिद्धसाधनम्। यथा च न तौ स्तः तथा प्रागेव प्रपञ्चितम्।

अथ कारणपूर्वकत्वं धर्मान्तरं तदनुमीयते; तदपि उपलब्धिलक्षणप्राप्ताधिकरणस्थं प्रत्यक्षावसेयम्, न मानान्तरमाकाङ्क्षति। न च अनुपलब्धिकारणम् आवरणदूरादि किंचिदस्ति। अनुपलब्धौ वा घटादावप्यनुपलम्भप्रसङ्गः। तदुक्तम् –

"विशेषेऽनुगमाभावः" । विशेषो हि अनुमानैकग्राह्योऽर्थः तेन सह सम्बन्धो नावगतः । तदनवगतौ न लिङ्गात् लिङ्गा(लिङ्गि)गतिः । नच षट्पदार्थव्यतिरिक्तं धर्मान्तरमस्ति स्वयमनभ्युपगमात्, अभ्युपगमे वा अभ्युपेतहानम् । यदि च कारणपूर्वकत्वं धर्मान्तरं तदनुमीयते लिङ्गात्; न तर्हि कारणमवगतं दिगीश्वरादि ।

अथ कारणपूर्वकं कार्यमेव प्रतीयते; तदेतत् प्रज्ञामान्द्यविचेष्टितम् । कथम्? तत्स्वरूपस्य प्रत्यक्षावगाहितदेहस्य किमनुमानेन? अत्रापि तदेव उपनतम् – 'सामान्ये सिद्धसाधनम्' समानं प्रत्यक्षानुमानविषयत्वे सामान्यमित्यपदिश्यते, तस्मिन् सामान्ये साध्यमाने साधनवैफल्यमापद्यते । किंच, यद्यनुमानादपि कार्यं प्रत्येति; कारणं न केनाप्यवद्योतितं स्यात् । तदनवद्योतने कालादिव्यवहारविरहः स्यात् ।

तथा, कारणदर्शनेन कार्यानुमानमपि न संभवति । भवतां पक्षे कारकाणां सामग्र्यं जनकम् । तच्चेन्न प्रत्यक्षं न च साधनान्तरं विद्यते तत्स्वरूपावेदकम् । अपि च, लिङ्गग्रहणानन्तरं व्याप्तिस्मरणम्, तदनु परामर्शज्ञानम्, ततोऽनुमेयप्रतिपत्तिः । न च एतावन्तं कालं सामग्र्यवस्थानमस्ति ।

अथ कारकैकदेशग्रहणे सति कार्यमनुमिमीषे; तदयुक्तम्, कारकैकदेशरूप(शस्या)जनकत्वात् । जनकत्वयोगे सति जनकम् इत्यपदिश्यते । नच जनकत्वयुक्तस्य अनुमेयप्रतिपत्तिकाले अवस्थानमस्ति । न चाकारकं कार्यं गमयति अतिप्रसङ्गात् ।

[§ ४. कृतकत्वहेतुकस्यानित्यत्वानुमानस्याप्यघटमानत्वप्रदर्शनम् ।]

तथा, कृतकत्वेन अनित्यत्वानुमानमपि नोपपद्यते, अनित्यत्वं हि स्वकारणसत्तासम्बन्धः, सत्ता वा, धर्मान्तरं वा,

शब्दध्वंसो वा, शब्दस्वरूपं वेति। तत्र तावत् स्वकारणसत्तासम्बन्ध-सत्ता-धर्मान्तरस्वरूपपक्षे उक्तमेव दूषणम्।

अथ ध्वंसोऽनुमीयते; तदयुक्तम्, तेन सह सम्बन्धानवगतेः। न शब्दसत्ताकाले तद्ध्वंसोऽस्ति, तदभावान्न सम्बन्धावगतिः, एकस्य सम्बन्धानुपपत्तेः। न चाभावस्य विषयभावोऽस्ति, भावे वा शब्दलिङ्गं न भवेत्। शब्दलिङ्गसद्भावे वा विज्ञानस्य अभावो न विषयः, तदभावात्। एतेन तपनोदयास्तमित्योर्गम्यगमकभावः पर्युदस्तो वेदितव्यः।

[८. आत्मानुमानस्य निरासः।]

[§ १. नैयायिकादिसंमतस्यात्मानुमानस्य निरासः।]

तथा, [आत्मा]नुमान(नं) सुखद्वेषा(ष)ज्ञानादिना न संभवति, तेन सह सम्बन्धानवगमात्, तदनवगतौ च अनुमानानर्थक्यम्। किं चात्र साध्यते? किम् – ज्ञानसुखादीनाम् आश्रितत्वम्, आहोस्विद् आश्रयाश्रितं वा ज्ञानस्वरूपम्? त(अ)थाश्रितत्वं साध्यते; तदा आत्म(मा) नैवाऽवबोधितः, ततोऽन्यत्वाद् आश्रितत्वस्य। अथ आत्मा साध्यते; तदेवं भवति – अस्ति आत्मा विज्ञानात्, नच व्यधिकरणस्य गमकत्वं विद्यते। अथ आश्रितं ज्ञानस्वरूपं साध्यते; तच्च प्रत्यक्षेणावगतम्। अन्योऽनुमानस्य विषयो वक्तव्यः। कथं ज्ञानसुखादि आत्मसम्बन्धित्वेन व्यपदिश्यते – किं सत्तामात्रेण, आहो तज्जन्यतया, तज्जनकत्वेन वा, तत्समवायित्वेन वा, तत्स्वरूपतादात्म्याद्वा? तद्यदि सत्तामात्रेण सुखं विज्ञानं वा आत्मनोऽपदिश्यते; तदा आत्मवत् सर्वे भावाश्चेतनाः स्युः विज्ञानसत्ताऽविशेषात्। तथा, सर्वे सुखिनो भवेयुः, आनन्दसत्ताऽविशेषात्। अथ तज्जन्यतया विज्ञानमात्मनोऽपदिश्यते; तदा नयनालोकपटाः चेतनाः स्युः, तैर्जन्यमानत्वाऽविशेषात्। अथ तज्जनकत्वेन तस्य इति चेत्; तदयुक्तम्, न विज्ञानेन आत्मा उत्पाद्यते भवतां पक्षे, उत्पादने वा स्मरणानुपपत्तिः।

अथ आत्मसमवायित्वेन विज्ञानम् आत्मनोऽपदिश्यते; न, तद्भावात्। भवतु वा, समवाये(यो) हि अखण्डितात्मा सर्वात्मवस्त्रादिसाधारणः। ततः सर्वे चेतनाः स्युः। अथ विज्ञानोपलक्षितस्य नान्यत्र संभवोऽस्ति; तदयुक्तम्, तद् उपलक्षितस्य अन्यत्र संभवात्, तत्संभवश्च तस्य एकत्वात्। असंभवे वा समवायानेकत्वप्रसङ्गः, असमवायित्वं वाऽन्येषाम्।

तथा, विज्ञानसमवाय आत्मनः समवायः किम् – सत्तामात्रेण, आहोस्विद् आत्मजनकत्वेन, तज्जन्यत्वेन, तत्समवायित्वेन, आत्मस्वरूपतादात्म्याद्वा? तद्यदि सत्तामात्रेण आत्मनः समवायोऽपदिश्यते; तदा ज्ञानसमवायसत्ताऽविशेषात् सर्वेषां ज्ञानसमवायित्वप्रसङ्गः। अथ तज्जन्यत्वेन; तदयुक्तम्, नहि आत्मना समवायोत्पादनं क्रियते नित्यत्वाभ्युपगमात्। अथ तज्जनकत्वेन आत्मनः समवायः; तदनुपपन्नम्, आत्मनो नित्यत्वात्। अथ आत्मनि समवेतः तेन आत्मसमवायोऽभिधीयते; तदयुक्तम्, समवायान्तरानभ्युपगमात्। अथ आत्मतादात्म्येन वर्त्तत इति आत्मसमवायः उच्यते; तदा आत्मा विद्यते नान्यः समवायोऽस्ति तत्स्वभावानुप्रवेशात्। एवं विज्ञानानन्दादीनां समवायसम्बन्धेन न नियतात्मव्यपदेश उपपद्यते।

अथ आत्मतादात्म्येनोपजायमानं विज्ञानानन्दादिकम् आत्मनोऽपदिश्यते; तदा विकारी प्राप्नोति अनया भङ्ग्या आत्मा। ततश्च स्मरणानुमानप्रत्यभिज्ञानानुपपत्तिः।

इतोपि आत्मा सुखादिकार्याधिकरणोऽवगन्तुं न पार्यते; किं तेनात्मना अनुपजातातिशयेन तापादि कार्यं क्रियते, आहोस्विद् उपजातातिशयेनापि, किं व्यतिरिक्तोपजातातिशयेन, अव्यतिरिक्तोपजातातिशयेन वा? तद्यदि अनुप-

जातातिशयेन उत्पाद्यते तापादि कार्यम्; तदा सर्वदा कुर्यात्, अनुपजातबलस्य कार्यकारणाभ्युपगमात्, न तापादिविकलः स्यात्, समं सुखादि कार्यं प्रसज्यते। अथ अव्यतिरिक्तोपजातातिशयेन उत्पाद्यते तापादि कार्यं; तदा अव्यतिरिक्तोपजातातिशय इति किं भणितं भवति? आत्मा उपजायते। ततश्च स्मरणानुमानप्रत्यभिज्ञानानुपपत्तिः।

अथ व्यतिरिक्तोपजातातिशयेन जन्यते तापादि कार्यम्; स तेनात्मना सह सम्बद्धो वा, न वा? यदि न सम्बद्धः; स तस्यातिशयः कथम्?

अथ सम्बद्धः किम् – जनकत्वेन, अथ जन्यत्वेन, तत्समवायित्वेन वा? तद्यदि जनकत्वेन सम्बद्धः; तदा आत्मा तेनातिशयेन उत्पद्यते इति स्मरणानुपपत्तिः। अथ जन्यत्वेन; सोऽपि तेन कथमुत्पाद्यते? किम् – अनुपजातातिशयेन, व्यतिरिक्तोपजातातिशयेन वा – इति प्राप्ता प्रश्नपरम्परा। अथ तत्समवायित्वेन; न, तस्य सर्वसाधारणत्वात्, तदभावाच्च।

अथ एककार्यजनकत्वेन सम्बद्धः; तदेवेदं चिन्तयितुमारब्धम् – किमिदं जनकत्वं नामेति? किंच, यदेव अनुपजातेऽतिशये आत्मनो रूपं तदेव जातेऽपि, तत् कथं कार्यं कुर्यात्? अथ पूर्वरूपस्यातादवस्थ्यम्; सुस्थितं नित्यत्वम्! अथ तादवस्थ्यम्; तथापि न करोति कार्यम्। एवं नैयायिकादिमतेन आत्मन उपभोगस्मरणादिकं न जाघटीति।

[§ २. जैनमते उपभोगाद्यनुपपत्तिप्रकटनेन आत्मानुमाननिराससूचना।]

यस्यापि देहपरिमाणमात्र आत्मा, तस्यापि सुखदुःखोपभोगानुभवस्मरणानुपपत्तिः। कथम्? उपपाद्यते – सुखादिकार्यम् आत्मनो भिन्नम्, अभिन्नम्, भिन्नाभिन्नं वा? तद्यदि

भिन्नम्; तत्किम् – सत्तामात्रेण, तज्जन्यत्वेन, तज्जनकत्वेन, तत्समवायित्वेन वा – इति पूर्वोक्तं दूषणमनुसृत्य वक्तव्यम् ।

अथ अभिन्नं सुखदुःखोपभोगस्मरणादिकार्यमुत्पद्यते; एवं तर्हि आत्मा उत्पद्यते । तदुत्पत्तौ स्मरणानुमानानुपपत्तिः, सुखादिवद् आत्मनो नानात्वोपपत्तेः । अथ एक एव आत्मा; सुखादेरप्येकता प्राप्ता । ततश्च एकत्वे अनुभवस्यैवावस्थानाद् अनुमानस्मरणानुपपत्तिः । अथ नानात्वं सुखादीनाम्; आत्मनोऽपि तदेवापद्यते, तद्व्यतिरेकात् । अथ सुखादिभेदेऽपि आत्मा नैव भिद्यते; तदा सुखादितादात्म्यं न लभ्यते । अथ सुखादितादात्म्यम्; तदा एकता नोपपद्यते, सुखादिवत् नानात्मोपपत्तेः ।

अथ भिन्नाभिन्नं सुखादि कार्यं तेन नोदितं दूषणमिति चेत्; कथम्? किम् आकारान्यत्वेन, आहोस्वित् कार्यान्यत्वेन, कारणान्यत्वेन वा? तद्यदि आकारान्यत्वेन आत्मनो भिद्यते सुखादिकार्यम्; तदयुक्तम्, आकारान्यत्वं हि अन्योन्याकारपरिहारेण स्वात्मना व्यवस्थितम्, अभेदपर्युदासेन भिन्नबुद्धिविषयत्वेनावस्थितेरेकत्वानुपपत्तिः । एकत्वं हि एकस्वभावता, एकस्वाभाव्ये हि नानास्वभावता नोपपद्यते, नानास्वाभाव्ये हि एकस्वभावतो(ता) नोपपद्यते – अन्योन्याकारपरिहारेण एतावाकारौ व्यवस्थितौ ।

अथ कारणान्यत्वेन भेदपरिकल्पना; तदयुक्तम्, भिन्नादपि कारणादभिन्नं कार्यं दृष्टम् । मृत्पिण्डदण्डाद्यनेकं कारणम् अखण्डितं कार्यं जनयति । तथा एकेनापि कारणेन अनेकं कार्यं जन्यमानं दृष्टं घटादि । तेन न कारणभेदेन वस्तूनां भेदः, नापि कार्यभेदेन, अपि तु आकारभेदेनैव भेदः । स च आकारभेदः अस्ति सुखात्मनोः, कथमभेदः?

किंच, येनैव आकारेण सुखम् आत्मनो भिद्यते तेनैव आकारेण अभिन्नम्, आहोस्विद् आकारान्तरेण ? तद्यदि तेनैवाकारेण अभिन्नम्; तस्य तावदेकान्ताऽभेदः प्रतिपन्नो भवति भवता। अथ आकारान्तरेण अभिन्नम्; आकारान्तरं सुखं न भवति, तदभेदेऽपि सुखस्य भेदात्।

[§ ३. प्रसङ्गात् जैनाभिमतस्यानेकान्तवादस्य निरसनम्।]

एवं च स्थिते – "तदेव नित्यं तदेव चानित्यम्" इत्येतन्नोपपद्यते, सुखात्मनोर्भेदात्। अनाद्यन्ता सत्ता नित्या, आद्यन्तवती चाऽनित्या।

तथा–"पररूपतयाऽसत्त्वं स्वरूपेण सत्त्वम्" इत्येतदपि न संभवति। पररूपेण न भावः नाप्यभावः, अपि तु स्वेन रूपेण भाव एकात्मकः–एकं हीदं वस्तूपलभ्यते, तच्चेदभावः किमिदानीं भावो भविष्यति ? तद्यदि पररूपतयाऽभावः; तदा घटस्य घ(प)टरूपता प्राप्नोति, यथा पररूपतया भावत्वेऽङ्गीक्रियमाणे पररूपानुप्रवेशः, तथा अभावत्वेप्यङ्गीक्रियमाणे पररूपानुप्रवेश एव। ततश्च सर्वं सर्वात्मकं स्यात्।

अथ पररूपस्याभावः; तदविरोधि त्वैकत्वं तस्याऽभावः। नहि तस्मिन् सति भवान् तस्यानुपलब्धेर्द्रष्टा, अन्यथा हि आत्मनोप्यभावो भवेत्। अथ आत्मसत्ताऽविरोधित्वेन स्वात्मनोऽभावो न भवत्येव; परसत्ताविरोधित्वात् परस्याप्यभावो न भवति। अथापराकारतया नोपलभ्यते तेन परस्य भावो न भवति; अभावाकारतया च अनुपलब्धेः परस्याभावोऽपि न भवेत्।

---

१. तस्या–भावः इत्यनयोर्मध्ये लुप्तो नकारो दृश्यते। अत्र कदाचित् ग्रन्थकारेण पूर्वं 'तस्य न भावः' इति लिखितं स्यात्। अथ च पश्चात् तं नकारं लुप्त्वा केनचित् 'तस्याऽभाव' इति कृतं स्यात्।

अथ अभावाकारतया उपलभ्यते; तदा भावोन्यो नास्ति, अभावाकारान्तरितत्वात् – अभावस्वभावावगाहिनाऽवबोधेन अभाव एव द्योतितो न भावः । यथा सुखावगाहकेन विज्ञानेन सुखमेवाऽवद्योतितं न दुःखम् । अथ सुखज्ञानेन दुःखमपि गृह्यते; तदिदानीं सुखदुःखयोरेकता प्राप्नोति । ततश्च पर्याय-रूपतया भेदाभ्युपगमो हीयते – अभिन्नात्मकं जगत् स्यात् । एवं च स्थिते यदुक्तम्–

“ भागे सिंहो नरो भागे योऽर्थो भागद्वयात्मकः ।
तमभागं विभागेन नरसिंहं प्रचक्षते ॥ ”

इति, तन्न प्राप्नोति विश्वस्याऽखण्डरूपत्वात् । एतदपि न वक्तव्यम्–

“ एको भावः सर्वभावस्वभावः, सर्वे भावा एकभावस्वभावाः ।
एको भावस्तत्त्वतो येन दृष्टः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन दृष्टाः ॥”

अथ पर्याया इतरेतरात्मना भिद्यन्ते सर्वभावानाम्; एवं तर्हि भावाऽभावपर्याययोरपि भेदोऽस्तु । इमामेव मूर्खतां दिगम्बराणामङ्गीकृत्य उक्तं सूत्रकारेण–यथा–

“ नग्न ! श्रव(म)णक ! दुर्बुद्धे ! कायक्लेशपरायण ! ।
जीविकार्थेऽपि चारम्भे केन त्वमसि शिक्षितः ॥ ” ॥ छ ॥

[§ ४. सांख्यमतेऽपि भोगानुपपत्तिप्रदर्शनेनात्मानुमाननिरासः ।]

तथा सांख्यमतेनापि आत्मनो भोगो नैव सम्पद्यते भोगस्य आत्मनि अवृत्तेः । भोगशब्देन सुखमभिधीयते, तत्संवेदनं वा ? तदुभयं बुद्धौ वर्त्तते नात्मनि, एवं च व्यवस्थिते बुद्धेर्भोक्तृत्वं नात्मनः ।

अथ बुद्धिगतेनापि भोगेनैव आत्मनो भोक्तृत्वमभिधीयते; तदा बुद्धिगतेन कर्त्तृत्वेन आत्मनः कर्त्तृत्वं प्रसज्यते । ततश्च

“कर्त्ता न भवति” इत्येतन्न वक्तव्यम्। अथ आत्मनि कर्त्तृत्वस्याऽवृत्तेः अकर्त्ता इत्यपदिश्यते; भोगस्याप्यतद्वृत्तेः संभुग् न भवत्यात्मा।

अथ अस्ति कर्त्तृत्वं यदि नाम औपचारिकम्, यथा भृत्ये जयपराजयौ वर्त्तमानौ स्वामिनि उपचर्यंते तथा बुद्धौ वर्त्तमानं कर्त्तृत्वं पुंसि उपचर्यते; यद्येवम् भोगोऽपि बुद्धौ वर्त्तमानः पुरुषस्यौपचारिकः प्राप्तः। औपचारिकोपि आत्मनि न संभवति; अन्यत्र मुख्यतयाऽनभ्युपगमात्। भोगाऽभावे च आत्मनो मोक्षचिन्ता न कर्त्तव्या। बन्धनवान् मुच्यते। न चात्मनि बन्धनमस्ति। भोगो हि बन्धनम्। स चात्मनि नैव विद्यते, तदभावात् मोक्षोऽपि निरुपपत्तिकः।

तथा, आत्मनोऽस्तित्वं न सिद्ध्यति भोक्तृत्वस्याभावे। भोग्येन भोक्तुरनुमानम्। यथा सूपादिमात्रं भोक्त्रविनाभूतं दृष्टम्, तथा प्रधानं सविकारं भोग्यं तेन भोक्ताऽनुमीयते; एतच्चायुक्तम्; आत्मनो भोक्तृत्वाभावे कथं भोग्येन आत्माऽनुमीयते, आत्मना सह भोग्यस्य सम्बन्धानवगतेः? तदनवगतिश्च आत्मनः प्रत्यक्षाविषयत्वात्। तदविषयत्वं च ‘विशेषेऽनुगमाभावः’ इत्युक्तम्। अथ प्रत्यक्षेण आत्मा अवधार्यते; तदा प्रत्यक्षविषयत्वेन आत्मनः समानता प्रत्यक्षानुमानविषयत्वेन, ततश्च सिद्धसाध्यता।

सूपादि भोक्त्रविनाभूतं दृष्टम्; तत्किम् – देहादिव्यतिरिक्तभोक्त्रविनाभूतं दृष्टम्, आहोस्विद् देहमात्रभोक्त्रविनाभूतं दृष्टम्? तद्यदि देहादिव्यतिरिक्तभोक्त्रविनाभूतं दृष्टम्; तदा दृष्टान्तोऽपि दार्ष्टान्तिकप्रतितुल्यः, आत्मनोऽतीन्द्रियत्वेन। अथ प्रत्यक्षेणावधारित आत्मा; तदा सिद्ध आत्मा, किमनुमानेन?

अथ देहमात्रभोक्त्रविनाभूतं दृष्टम्; तदा देहविकाराणां भोगयोगेन नात्मनः सिद्धिः। भवतु वा आत्मनो भोगः, तथापि अकृत-कृताभ्यागमनाशदोषप्रसङ्गः – अकृतस्य कर्मणः फलमभ्येति आत्मनः, कृतस्य च कर्मणः फलं न सम्पद्यते बुद्धिः। यदि च अकृतस्य कर्मणः फलमभ्येति; तदा मुक्तात्मनामपि तत्फलं स्यात्, आत्मवृत्तिनियमहेतोरभावात्। ततश्चाऽकैवल्यप्रसङ्गः।

[§ ५. सांख्यसंमतस्य कैवल्यस्यानुपपत्तिकत्वोपपादनम् ।]

इतश्च कैवल्यं नोपपद्यते, भोग्यभोजकयोरवस्थानात्। नहि भवतां पक्षे सदात्मानं परित्यजति भोग्यम्। येनाकारेण आत्मनो भोग्यत्वेनावस्थितम्, नहि तदाकारमतिवर्त्तते, आत्मनो भोक्तृत्वाकारस्य अनतिवृत्तेः। अतिवृत्तौ च आत्मोच्छेदप्रसङ्गः॥ छ॥

[§ ६. वेदान्तसंमतस्यानन्दरूपकैवल्यस्यायुक्तिकताप्रदर्शनम् ।]

येपि आनन्दरूपमात्मनः कैवल्यमभिदधति तेऽपि युक्तिवादिनो न भवन्ति। कथम्? यद्यात्मनः आनन्दरूपं स्वसंवेद्यं च; तदा संसारावस्थायामपि तत् वेद्यं प्रसक्तम्। ततश्च मोक्षार्थप्रयासो निष्फलः।

अथ संसारावस्थायां न वेद्यते अनादिमलावगुण्ठितमात्मनः स्वरूपम्, यथा पटान्तरिते घटे घटबुद्धिर्न भवति, एवं मललिप्ते आत्मनि आत्मबुद्धिर्न भवति; तदेतदयुक्तम्, दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः वैषम्यात्–पटान्तरिते घटे घटबुद्धिर्न भवति पटान्तर्धाने सति इन्द्रियेण साकं सम्बन्धो नास्ति तद्भावाद् घटे नेन्द्रियजं विज्ञानं समुपद्यते। इह तु पुनः मलावगुण्ठनेन कस्य व्यवधानं क्रियते? न वेद्यवेदकयोर्व्यवधानं क्रियते। वेद्यं वेदकं च आत्मस्वरूपमेव–यथा बौद्धानां स्वसंवेद्यं विज्ञानम्, तच्च विषयसद्भा-

वेऽपि वेद्यते तदभावेऽपि वेद्यते, य(त)थात्मनः स्वसंवेद्यं स्वरूपं मलसद्भावेऽपि वेद्यते तदसद्भावेऽपि वेद्यते, मलस्याऽकिंचित्करत्वाद् आत्मनोऽर्थान्तरत्वेनाऽवस्थानात्। अथ तादात्म्येन स्थितानि मलानि; तदा 'मलानि अपनीयन्ते' किमुक्तं भवति? आत्माऽपनीयते। ततश्च मोक्षाभावप्रसङ्गः ॥ छ ॥

[§ ७. मीमांसकमतेनापि आत्मानुमानस्यासंभवित्वप्रकटनम्।]

तथा मीमांसकमतेनापि आत्मानुमानं न प्रवर्त्तते, प्रमाणान्तरानवधारितार्थविषयत्वाभ्युपगमात् प्रमाणानाम्। नियतविषयाणि हि प्रमाणानि प्रतिपद्यन्ते – प्रत्यक्षावसेये नानुमानं प्रवर्त्तते, अनुमानावसेये च प्रत्यक्षं न प्रवर्त्तते। ततश्च इतरेतरव्यावृत्तिविशेषविषयाणि। तदयु(तदु)क्तम् – "विशेषेऽनुगमाभावः" विशेषो नियतप्रमाणग्राह्योऽर्थः, तथाभूतेऽर्थेऽङ्गीक्रियमाणे अनुमानस्याऽनुगमाभावः। अनुगमः सम्बन्धः, तद्ग्रहणानुपपत्तिः।

अर्थे(थ) प्रत्यक्षाद्यवधारितेप्यर्थे अनुमानं प्रवर्त्तते; नन्वेवं प्रत्यक्षानुमानसाधारणोऽर्थः प्रसक्तः। साधारणता समानता। "सामान्ये सिद्धसाध्यता" प्रत्यक्षावगतत्वात्। अनधिगतार्थगन्तृविशेषणं च अपार्थकम्।

अथवा, सामान्ये सिद्धे साधनम् इत्यन्योऽर्थः। सामान्ययोः गम्यगमकभावोऽभ्युपगम्यते मीमांसकेन। नच तत् सामान्यं विद्यते, यथा च न विद्यते तथा प्रागेवोदितम्। ततश्च सिद्धस्य साधनम् – विद्यमानस्य साधनम्। नच अग्नित्वमस्ति। तदभावे कस्येदं ज्ञापकम्?

अथवा, सिद्धं साधनं सिद्धसाधनम् इत्यन्योऽर्थः। विद्यमानं साधनम्। नच धूमत्वसामान्यमस्ति। तच(च्च)विद्यमानं सामान्यम्। कथं सामान्यं साधनं भवितुमर्हति?

अथवा, सिद्धसाधनम् — ज्ञातमनुमानं साधनं भवति, न च धूमत्वं ज्ञातं स्वधर्मसत्त्वात्, अथवा ग्रहणोपायाभावात् तस्य अनुस्यूतं रूपम्। नच तत् आत्मन्यनुस्यूतम्। नापि एकस्यां व्यक्तौ अपि तु बह्वीषु व्यक्तिषु। नच बह्व्यो व्यक्तय उपलभ्यन्ते, अपि तु एकैव धूमव्यक्तिरुपलभ्यते। नच एकस्यां व्यक्तौ अनुगतात्मतया सामान्यसंवित्तिरस्ति। नचाकारान्तरसामान्यम् ॥ छ ॥

[९. ताथागतसंमतस्यानुमानस्य निरासः]

तथा, ताथागतानामपि अनुमानं न प्रवर्त्तते सम्बन्धानवगतेः। तदनवगतिश्च — किं सामान्ययोः सम्बन्धावधारणम्, आहोस्वित् सामान्यस्वलक्षणयोः, स्वलक्षणयोर्वा? तद्यदि सामान्ययोः सम्बन्धावधारणं क्रियते; तदयुक्तम्, सामान्यस्याऽसंभवान्न तयोः सम्बन्धः। नापि सामान्यस्वलक्षणयोः सम्बन्धावधारणं क्रियते, सामान्यस्याऽसत्त्वात्।

अथ स्वलक्षणयोः सम्बन्धावधारणम्; तत्रापि किम् अर्थयोः, ज्ञानयोः, ज्ञानार्थयोर्वा? तद्यदि अर्थयोः सम्बन्धावधारणम्; तद्दहनधूमयोर्हेतुफलभावज्ञानं किं सत्तामात्रेण, आहोस्वित् तदाकारयोगित्वेन, तज्जन्यत्वेन वा, सामस्त्येन वा? तद्यदि सत्तामात्रेण दहनधूमसंवेदनमपदिश्यते; न केवलं तद्दहनस्य तत् संवेदनम्, त्रैलोक्यस्य तत्संवेदनं प्रसक्तम्, उपकारविनिर्मुक्तस्य सत्ताऽविशेषात्।

[§ १. प्रसङ्गात् ज्ञानस्य विषयाकारत्वं विचार्य तत्खण्डनम्।]

अथ तद्दहनाकारयोगित्वेन तस्य संवेदनमभिधीयते; यथा दहनेन स्वनिर्भासमुत्पादितं तथा गन्धाकारोपरक्तगन्धादिज्ञानेनापि स्वनिर्भासमुत्पादितम्। ततश्च ज्ञानाकारं तदुत्पद्यते इति युक्तं भवति गन्धाद्याकारम्, ततश्च अनेकाकारयोगित्वे सति प्रतिकर्मव्यवस्था न लभ्यते। अथ गन्धादिज्ञानं न गन्धा-

ग्याकारमर्पयति दहनज्ञाने; तदानीं ज्ञानाकारार्पकत्वमपि न लभ्यते, ज्ञानतादात्म्यव्यवस्थितोऽसौ गन्धाकारः तदनर्पकत्वे ज्ञानाकारोऽपि नार्पितः स्यात्। ततश्च दहनविज्ञानम् अविज्ञानम्। निरवयवं च गन्धादिज्ञानम्, नैकदेशेन आकारार्पकत्वम्। अथ निराकारं गन्धादिज्ञानम्; प्रतिकर्मव्यवस्था तर्हि न लभ्यते, तस्य दहनज्ञानस्यापि निराकारताऽस्तु।

किंच, दहनाकारयोगित्वेन यदि दहनसंवेदनम्; तदा पूर्वविज्ञानाकारयोगित्वेन पूर्वविज्ञानस्यापि तद्वेदनं प्राप्तम्, तदाकारयोगित्वात् तदुत्पाद्यत्वाच्च। अथ तथा(दा)कारयोगित्वे तदुत्पाद्यत्वे च तस्य तद्वेदनं न भवति; विषयस्यापि तर्हि तद्वेदनं किम्, इह द्वयस्य विसंवादात्? अथ तद्विज्ञानं विदितम् इति कृत्वा न वेद्यते ज्ञानान्तरेण; एवं विषयस्यापि तद्वेदनं न प्राप्नोति पुरुषान्तरावधार्यमाणस्य।

अपि च, यदि दहनाकारयोगित्वेन दहनस्य तद्वेदनम्; वस्तुत्वाकारयोगित्वेन नयनादेरपि तत्संवेदनं प्रसक्तम्। अथ नयनादेरसाधारणाकारार्पकत्वं न विद्यते; तेन तेषां तत्संवेदनं न भवति, नीलस्य स्वभवनदेशकालस्वभावानर्पकत्वात् स्वकारणकलापोत्पाद्यस्वभावानर्पकत्वाच्च। तदर्पकत्वे च नीलाकारयोगिता स्यात् तत्कारणजन्यत्वं च। एककालीनत्वे एककारणजन्यत्वे च हेतुफलभावानुपपत्तिः सहोत्पन्नयोर्गोविषाणयोरिव। अथ असाधारणाकारतया नोपजायते अपि तु नीलमात्र प्रतिच्छायतयैव उपजायते; यद्येवं नयनादिस्वलक्षणाकारतया उपजायमानं नयनादेः तद्ग्रहणं भवेत्।

अपि च, दहनाकारता दहनविज्ञानात् किं भिन्ना, अभिन्ना वा? यदि भिन्ना; सा किं तात्त्विकी, आहोस्विदतात्त्विकी? तद्यदि तात्त्विकी; तद्गतिः कथम्? न स्वसंवेद्यत्वेन नापि

जनकत्वा-ऽऽकारार्पकत्वेन । स्वसंवेद्या न भवति विज्ञानकार्य-(काय)व्यतिरेकात् । नापि जनकत्वाऽऽकारार्पकत्वेन गृह्यते । अर्थो हि आकारमर्पयति न विषयाकारता । तदाकारार्पकत्वे वा प्राप्ता आकारपरम्परा । अथ अतात्त्विकी विषयाकारता; सा अतात्त्विकत्वेन असंविदितदेहा कथं प्रतिकर्मनियामिका भवति ?

अथ अव्यतिरिक्ता; सा किं तात्त्विकी, आहोस्विद् अतात्त्विकी ? यदि तात्त्विकी; सा किं जडात्मिका, आहोस्वित् चित्स्वभावा ? तद्यदि जडात्मिका; तदा ज्ञानाऽव्यतिरेकित्वं न संभवति चिदचिदोरेकत्वायोगादन्योन्यपरिहार-स्थितिधर्मत्वेन । अथ चिदात्मिका; तदा परिभाषामात्रं भिद्यते – ज्ञानं विषयाकार इति । अथ अतात्त्विकी; तदा ज्ञानस्याप्यतात्त्विकत्वम् । न च ज्ञानव्यतिरिक्ता विषयाकारता नास्ति, अपि तु ज्ञानस्वरूपमेव विषयाकारतात्मकमपदिश्यते । तच्च नयनार्थालोकसाधारण उत्पाद्यत्वेन समं संवेदनं प्रसक्तं सर्वकारकाणाम् ।

[§ २. दृष्टान्तीभूतस्यादर्शस्य मुखरूपतास्वीकारार्थस्य विकल्प्य निरसनम् ।]

यदप्युक्तं केनापि – "आदर्शमण्डलं मुखरूपतां स्वीकरोति न च आदर्शरूपतां परित्यजति तथा ज्ञानमपि विषयरूपतां स्वीकुर्वन्न विज्ञानरूपतां त्यजति" तदप्ययुक्तम्, आदर्शमण्डलस्य मुखरूपतास्वीकरणार्थो वक्तव्यः – किं मुखतादात्म्यम्, आहोस्विद् अविरलदेशोत्पादः ? तद्यदि तादात्म्यम्; कथं न आदर्शरूपतां जहाति ? एकं हि इदं वस्तु – तत्तादात्म्ये मुखम् आदर्शो वा । अथ अविरलदेशोत्पादो मुखस्य स्वीकरणम्; तदानीम् आकारस्यापि स्वीकरणम् अविरलदेशो-

१. काया – इत्येवं परिमार्जितम् ।

त्पाद एव प्राप्तः, ततश्च नाकारेण प्रतिकर्मव्यवस्था क्रियते। अनवगतरूपेणैव च स्थितेः। दहनज्ञानं यदि साकारं तथापि दहनग्रहणं न भवति।

इतोऽपि दहनग्रहणं न भवति। किं तद् अवगतम्, अनवगतम्, तत्किं ज्ञानान्तरवेद्यम्, स्वसंविदितं वा? यदि ज्ञानान्तरवेद्यम्; तदयुक्तम्, न ज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यं भवत्पक्षे। अथ स्वसंवेद्यम्; तदयुक्तम्, विषयदृष्टान्तबलेन निराकृतं नैयायिकैः। अथ अनवगतम्, न तर्हि तद् दहनस्य ग्रहणम्। "अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्ध्यति" इति न्यायात्।

अपि च यत् तत् दहनग्रहणम्—तत्र किमवभाति—किम् अर्थः, ज्ञानम्, उभयं वा? यदि अर्थः प्रतिभाति; तदयुक्तम्, असंविदितायां संवित्तौ तत्संवित्त्ययोगात्। अथ ज्ञानम्; [न] तर्हि दहनधूमयोः सम्बन्धोऽवगतः तत्संवित्तिपूर्वकत्वात् सम्बन्धबुद्धेः। अथ उभयं प्रतिभाति; तदयुक्तम्, एकोपलम्भस्या(स्य) द्वितीयाकारपरिहारस्थितिधर्मत्वात्। न च दहनज्ञाने ज्ञानार्थाकारौ प्रतीयेते अपि तु दहनस्यैव प्रतिभासनात्।

अथ दहनोत्पाद्यत्वेन तत् दहनस्य संवेदनम्; कथं तत् दहनेनोत्पाद्यते? किम् अतज्जननस्वभावेन, तज्जननस्वभावेन वा? यदि अतज्जननस्वभावेन; अतज्जननस्वभावः कथमसौ तज्जनयेत्?

अथ तज्जननस्वभावः; न तर्हि दहनाद् धूमस्योत्पत्तिः, दहनस्य दहनज्ञानोत्पादकस्वाभाव्येन धूमोत्पादकत्वायोगात्। अथ तेनैव स्वभावेन धूममुत्पादयति; प्राप्ता विज्ञानस्यापि धूमरूपता, धूमस्य वा विज्ञानरूपता, अभिन्नात्मोत्पाद्यते, भेदकं च न बीजमस्ति।

अथ स्वभावान्तरेण जनयति; [न] एकस्य स्वभावद्वयाभावात् – स्वभावद्वये च एकतानुपपन्ना । ततश्च दहनेन धूमोत्पादनं क्रियते न तदा स्वज्ञानमुत्पादयति । ज्ञानं विना केन हेतुफलावधारणं क्रियते? अथ दहनो दहनज्ञानमुत्पादयति; न तर्हि दहनस्य धूमोत्पादकत्वम्, तदभावात् न बाह्यार्थयोर्हेतुफलभावावधारणं दहनादिज्ञानेन शक्यते कर्तुम् ।

[§ ३. कार्यानुमाननिरासाय दहनधूमयोर्हेतुफलभावानुपपत्तेः पुनरुपक्रमः ।]

इतोऽपि दहनधूमयोः हेतुफलभावानुपपत्तिः । यथा अविचलितदहनस्वरूपस्य पूर्वापरानेककार्याविर्भावकत्वं न प्रतिपद्यते भवद्भिः तथा अनायत्तविकारस्य युगपदुत्पन्नानेककार्याविर्भावकत्वमपि न प्रत्येतव्यम् । अथ अभ्युपगम्यते युगपदनेककार्योत्पादकत्वं युगपदनेककार्योत्पादनशक्तियुक्तस्योत्पत्तेः; यद्येवम् – क्रमभाव्यनेककार्याविर्भावकत्वस्योत्पत्तेः अयुगपदेकं कार्यं विदध्यात् । विदधात्येव इति चेत्; इदमापेक्षिकत्वं यत् क्रमभाव्यनेककार्यजनकात्मकं स्वरूपम् । एतदभ्युपगमे अभ्युपेतहानमापद्यते । अथ अविचलितरूपेण पूर्वापरकार्यं न जन्यते; तदा युगपदपि न कुर्यात् अनायत्तविकारः । ततश्च न दहनादू धूमस्योत्पत्तिः ।

अथ एकमेव तेन ज्वलनेन जन्यते; किं तदेकम् – विज्ञानम्, धूमो वा? तद्यदि विज्ञानमेव जन्यते; न तर्हि धूमं दृष्ट्वा अग्निं(ग्निः) प्रतीय[तेऽ]तद्व्यापारलब्धजन्मवत्त्वात् । अथ धूम एव उत्पाद्यते; तदा तद्विज्ञानं विना केन हेतुफलभावोऽवगम्यते?

इतोऽपि दहनस्य धूमाविर्भावकत्वं न जाघटीति – किं निमित्तभूतेन धूमोत्पादनं क्रियते, किं वा उपादानभूतेन? तद्यदि निमित्तभूतेनोत्पाद्यते; तदा धूमरूपता न प्राप्नोति उपादानं विना ।

अथ उपादानभूतेनोत्पादनं क्रियते; ननु असमानजातीयं कथमुपादानकारणं भवेत्? अभ्युपगमे वा देहेन्द्रियसंघातादेव गर्भादौ विज्ञानं भविष्यति अलं परलोकविज्ञानकल्पनया।

अथ समानजातीयेन विज्ञानेन विना न विज्ञानस्य उद्गतिः इति चेत्; एवं तर्हि धूमस्यापि असमानजातीयात् दहनात् कथमुत्पत्ति? अथ रूपरूपतया वह्नेः समानजातीयत्वम्; एवं देहादेरपि समानजातीयत्वं स्वलक्षणरूपतया। इदमेव चेतसि समारोप्य उक्तम्– "शरीरादेव इति बृहस्पतिः"।

अथ ज्ञानरूपतया न समानजातीयत्वं देहस्य; दहनस्यापि धूमरूपतयाऽसमानजातीयत्वम्। नियतकारणजन्याकारतया नियतदेशकालस्वभावतया च सर्वे भावाः अन्योन्यव्यावृत्ततनवः। न च तेषाम् अन्योन्याकारानुगमोऽस्ति, नाप्येकजात्यनुगमः। तदुक्तम्–

"सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावव्यवस्थितेः।
स्वभावपरभावाभ्यां यस्माद् व्यावृत्तिभागिनः॥"

ततश्च भिन्नजातीयात् सर्वं जायमानं दृष्टम्, न समानजातीयाद्भवत् किंचिद् दृष्टपूर्वम्। एवं च भिन्नजातीयं देहादिकं गर्भादौ विज्ञानमुत्पादयिष्यति। ततश्च न परलोकः प्रसिद्ध्यति।

अथ समानजातीयं विज्ञानं विना विज्ञानं नोत्पद्यते; तदा न कस्यचिदुत्पत्तिः स्यात्, समानजातीयकारणासंभवात्। ततश्च कार्यानुमानं हीयते।

इतोऽपि दहनधूमयोः हेतुफलभावावधारणं कर्तुं नैव शक्यते– किम् एकेन ज्ञानेन दहनधूमयोर्हेतुफलभावावधारणं क्रियते, आहोस्वित् प्रतिनियतेन ज्ञानेन? तद्यदि एकं ज्ञानम्

उभयावगाहकं गीयते; तदा ज्ञानस्य अक्षणिकत्वमापद्यते धूमहेतोर्वा ।

अथ प्रतिनियतेन ज्ञानेन पूर्वापरावधारणं क्रियते; तदयुक्तम्, धूमावगाहकेन विज्ञानेन तत्सत्तामात्रं प्रद्योत्यते। तत्स्वरूपमात्रपर्यवसायिना तत्स्वरूपास्तित्वं विधीयते तदुक्तम्- "सामान्ये सिद्धसाध्यता"। सामान्ये धूमास्तित्वमात्रे धूमज्ञानस्य प्रामाण्यमस्ति ।

"विशेषेऽनुगमाभावः"। विशेषे भेदे दहनेन सह पूर्वापरविकल्पो(ल्पे) अनुगमाभावः व्यापाराभावः। न शक्नोति धूमज्ञानमवगन्तुम् - 'किमेतद् धूमस्वरूपं दहनात् पूर्वं सह पश्चाद्वा जातम्?' धूमज्ञानस्य दहनात्मा पिशाचतुल्यतया व्यवस्थितः - यथा धूमज्ञानं पिशाचादिस्वरूपं न विषययति तेन सह पूर्वापरसहभावं न शक्नोति स्थापयितुं धूमस्य; दहनस्यापि धूमज्ञानेन स्वरूपं नावसितम्, तेन सह पूर्वापरसहभावेन धूमज्ञानं धूमस्वरूपं नावगन्तुं शक्नोति ।

अथ यद्यपि धूमज्ञानं दहनस्य स्वरूपं न विषययति तथापि स्वज्ञानेन दहनस्वरूपं विषयीक्रियते, पिशाचादेस्तु स्वरूपं न केनाप्यवसितम्, तेन सह पूर्वापरभावो नावगम्यते धूमस्य; तदेतदयुक्तम्, दहनज्ञानेनापि दहनास्तित्वमात्रमवसितम्, न तु धूमेन सह पूर्वापरसहविकल्पः। सती सत्ता दहनज्ञानेन प्रद्योत्यते। सा तु धूमात् किम् - पूर्वं सह पश्चाद्वा चिरोत्पन्ना प्रत्ययोत्पन्ना अनुत्पन्ना वा? नायं दहनज्ञानव्यापारस्य विषयः अपि तु तत्सत्तामात्रप्रतिबद्धं तदस्तित्वं विदधाति। पिशाचोऽपि स्वज्ञानेनावगतः। कथं? ज्ञायते, सोऽपि स्वज्ञानावगाहितदेहोऽस्तु - यदि नाम तेन सह धूमज्ञानं पूर्वापरसहभावं न शक्नोति प्रकाशयितुं धूमस्य ।

इतोऽपि दहनधूमयोर्हेतुफलभावावधारणं न शक्यते कर्त्तुम्। धूमज्ञानसत्ताकाले धूमसत्ता न विद्यते ज्वलनज्ञानसत्ताकाले ज्वलनसत्ता न विद्यते। न(ना)विद्यमानस्या(स्य) ग्रहणं नाम, अन्यथाग्राहि(थाऽग्राह्य)केशोण्डुकस्यापि ग्रहणं स्यात्।

अथ केशोण्डुकस्य सर्वदा सत्ता न विद्यते – न ज्ञानकाले नापि पूर्वम्, दहनादेस्तु पूर्वं सत्ता विद्यते। यदि नाम 'ज्ञानकाले नास्ति पूर्वं तु विद्यते' इति; सुव्याहृतमेतत्! गृहीतिकाले नास्ति गृहीतेस्तु पूर्वमस्ति, गृहीतिमन्तरेण सुस्थितानि वस्तूनि! अथ ज्ञानजनकत्वेन पूर्वं विद्यते; तज्जनकत्वं केनाऽवगम्यते, विज्ञानस्य स्वतनुद्योतकत्वेन पर्यवसितेः? ततश्च पिशाचकल्पौ दहनधूमाकारौ, तयोर्हेतुफलभावावधारणाय न प्रत्यक्षम्।

अथ ज्ञानावलीढतदाकारान्यथानुपपत्त्या तयोः स्वरूपव्यवस्था क्रियते; तदयुक्तम्, आकारो हि प्रागेवापोदितः, न च आकारार्थयोः प्रतिबन्धोऽवधारितः, तदनवधारणे कथम् आकारोऽर्थं गमयति? एवं तावदर्थजन्यत्वं न शक्यते ज्ञानस्यावधारयितुम्। नाप्यर्थस्य अर्थजन्यत्वम्। एवं हेतुफलभावानवधारणात् कथं धूमं दृष्ट्वा अनुमिनोति अग्निम्।

[§ ४. विकल्प्य विषयासंभवदर्शनेनानुमानस्य निरासः।]

अपि च, आनुमानिकं ज्ञानं किंविषयम् – किं अग्न्यादिस्वलक्षणविषयम्, आहोस्विद् वस्तुसू(भू)तसामान्यविषय[म्], [अवस्तुभूतसामान्यविषयं वा], विकल्पविषयम्, स्वांशविषयम्, निर्विषयं वा?

तद्यदि स्वलक्षणविषयम्; तदा प्रत्यक्षानुमानयोर्भेदो न प्राप्नोति, स्वलक्षणविषयत्वेन स्पष्टाकारतानुमानज्ञानस्यापि प्रसज्यते, 'अस्पष्टाभम्' च भवद्भिः प्रतिपद्यते न त्वन्यैः।

अन्ये तु वदन्ति – "स्वलक्षणमेव स्पष्टाकारम्" । यदि नाम प्रत्यक्षग्राह्यं स्वलक्षणं विस्पष्टम् अनुमानग्राह्यम् अविस्पष्टम्, स्वलक्षणस्यैवायं भेदः । एकोऽग्निः प्रत्यक्षजननयोग्यः अन्योऽग्निः अनुमानजननयोग्यः । प्रत्यक्षजननयोग्येऽग्नौ आनुमानिकं ज्ञानं यदि भवति – भवति प्रत्यक्षानुमानयोर्भेदः कदाचित्, यावता आनुमानिकज्ञानजननयोग्योऽग्निः अन्य एव । अथ स्वलक्षणविषयसाम्याद् अभेदपरिकल्पना प्रत्यक्षानुमानयोः; यद्येवम् – गन्धरसादिज्ञानानां स्वलक्षणविषयसाम्यात् सर्वेषामभेदः प्राप्नोति – सर्वं गन्धज्ञानं रसज्ञानं वा वक्तव्यम् । अथ स्वलक्षणविषयत्वे सत्यपि अवान्तरभेदविवक्षया गन्धादिज्ञानमपदिश्यते; यद्येवम् – सत्यपि अग्निविषयत्वे प्रत्यक्षानुमानज्ञानयोः अवान्तरभेदविवक्षया प्रत्यक्षानुमानज्ञानव्यपदेशः । अथ करणभेदेन गन्धादिज्ञानानि भिद्यन्ते; तदा प्रत्यक्षानुमानयोः करणभेदोपपत्तेः भेदोऽस्तु । एवं च यदुक्तम्– "स्वलक्षणविषयानुमानं भवति" तन्मूढोक्तम्, अग्निप्रपञ्चस्य प्रतिभासनात् ।

अथ वस्तुभूतसामान्यविषयम्; न, तदभावाद् विज्ञानजनकत्वासंभवाच्च । न च जनकत्वमन्तरेण विषयार्थ उपलभ्यते ।

अथ अवस्तुभूतसामान्यविषयम् । तदुक्तम् – "वैकल्पिकं सामान्यं बुद्ध्युपदर्शितरूपम्"; एतदपि न युक्तम्, अविद्यमानं सामान्यं कथं बुद्धेर्विषयभावं प्रतिपद्यते ? किम् – सत्तामात्रेण, सहोत्पादेन वा, जनकत्वाऽऽकारार्पकत्वेन वा ? सर्वस्यासंभवे विषयार्थो भणनीयः । यदि च जनकत्वाद्यभावेऽपि बुद्धौ प्रतिभाति सामान्यम्; तदा रूपादेरपि जनकत्वं न कल्पनीयम् – रूपं विज्ञानमकुर्वत् प्रत्यक्षं स्यात् ।

यदपि “ दृश्यविकल्प्यावर्थावेकीकृत्य तदध्यवसायेन प्रवर्त्तते ” इत्युक्तम् । दृश्यं बाह्यं रूपादिस्वलक्षणम्, विकल्पः(ल्प्यः) बुद्धिसमारोपिताकारः । किं पुनरनयोः एकीकरणम् ? किम् – अभेदेन उत्पादनम्, किं वा अभेदेन अवधारणम्, आहोस्वित् संघटना क्रियते ? तद्यदि अभेदेन उत्पादनम्; सदसतोरभेदेन उत्पादनं हतत्रंपाद्दते नान्यो वक्तुमर्हति । अभेदेनोत्पादने च भावस्याभावप्रसङ्गः, सामान्यस्य वा वस्तुत्वं प्राप्नोति, तद्वस्तुत्वे स्वलक्षणविषयमनुमानम् । प्रत्यक्षाऽनुमानयोर्भेदबीजमन्वेष्टव्यम् ।

अथ एकीकरणम् – एकत्वेन प्रतीयमानत्वं दृश्यविकल्प्ययोः; तदुक्तं(तदयुक्तम्), किम् एक एव आकारः प्रतिभाति, आहोस्विद् आकारद्वयम् ?

तद्यदि एक ए[1]व आकारः प्रतिभाति; तत्किं दृश्याकारः, आहोस्विद् विकल्पाकारः ? तद्यदि दृश्याकारः प्रतिभाति; तदा स्वलक्षणविषयमेव अनुमानं प्रसज्यते ।

अथ विकल्पाकारः प्रतिभाति; तस्य सर्वोपाख्यारहितत्वेन प्रतिभासाविषयत्वाद्वाप्येतद् वक्तव्यम् – स्वलक्षणमेव ....

....

... काराव्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तो वा ? यद्यव्यतिरिक्तः; तदा स्वलक्षणविषयमनुमानं प्राप्तम् । समारोपितं च सामान्यं प्रतीयते इति न वक्तव्यम् । तात्त्विकं च सामान्यं प्रसज्यते । ....[दृश्या]तात्त्विकत्वप्रसङ्गो वा । अथ व्यतिरिक्तो विकल्पाकारः; तर्हि न वक्तव्यम् – तदारोपद्वारेण प्रतीयते स्वलक्षणविकल्पाकारान्तरितत्वात् ।

अथ घटना[2] क्रियते स्वलक्षणेन सामान्यस्य; तदसत्, सदसतोर्घटनाऽयोगात् । सतोर्घटना दृष्टा यथा चक्षुर्घटयोः ।

---

१. ‘ एव आकारः ’ इत्यतः ‘ व्यतिरिक्ताव्यतिरि ’ इत्यन्तं घृष्टम् । २. घटना – घृ० ।

अथ सामान्यस्वलक्षणाकारद्वयं प्रतीयते; एवं तर्हि अन्योन्यविलक्षणौ सामान्यस्वलक्षणाकारौ प्रतीयेते। ततश्च न वक्तव्यम् – "दृश्यविकल्पा(ल्प्या)वर्थावेकीकृत्य तदध्यवसायेन प्रवर्त्तते" इति। यदि च विविक्तमाकारद्वयं प्रतिभाति; तदा स्वलक्षणविषयमनुमानं प्रसक्तम्। तद्विषयत्वे मानयोर्भेदकारणं वक्तव्यम्। सर्वोपाख्याविनिर्मुक्तस्य च सामान्यस्य प्रतीयमानत्वं नोपपद्यते।

अन्यच्च, धूमोत्पादिते अग्निविज्ञाने अनग्निव्यवच्छेदरूपं सामान्यं प्रतिभातीति व्यपदिश्यते, अजलव्यवच्छेदेन प्रतिभातीति किं नाभ्युपगम्यते? नाऽजलव्यवच्छेदेन जन्यते, नापि अनग्निव्यवच्छेदेन, तदनुत्पत्तौ प्रतिकर्मनियमानुपपत्तिः।

अथ निर्विषयम् आनुमानिकं ज्ञानम्; तदयुक्तम्, स्वांशविषयत्वात्। नहि भवतां पक्षे निरालम्बनं किंचिद् विज्ञानमस्ति, आत्मावगाहकत्वेनोत्पत्तेः। यदि च निरालम्बनं ज्ञानम्; क्व प्रवर्त्तेत निवर्त्तेत वा पुरुषः? अगतिः स्यात्। अथ दहनेन तदुत्पादितम् इति कृत्वा दहनान्तिकमुपसर्पति; एवं धूमज्ञानोत्पादेऽपि यायात्।

अथ स्वांशविषयमनुमानम्; तदा प्रत्यक्षानुमानयोर्भेदानुपपत्तिः, प्रतीयमानज्ञानस्य स्वलक्षणात्मकत्वात्।

[§ ५. ज्ञानयोः हेतुफलभावावधारणस्याशक्यत्वप्रतिपादनम्।]

अथ ज्ञानयोः हेतुफलभावावधारणं क्रियते; तदप्ययुक्तम्, ज्ञानयोरपि हेतुफलभावावधारणं न शक्यते कर्त्तुम् – कार्यज्ञानं हि स्वसंवित्पर्यवसितं न ज्ञानान्तरमात्मसात्करोति। तदकरणे 'केन निव(र्वे)र्त्तितं मम स्वरूपम्' इत्येतत् कथं वेत्ति, तद्भिन्नज्ञानस्य पिशाचतुल्यत्वात्? तत्र(न्न) ज्ञानं ज्ञानान्तराद् भिद्यते। तदभेदे कथं हेतुफलभावः, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्?

[§ ६. प्रसङ्गाद् विज्ञानवादिकृतावयविनिराकरणस्य प्रतिवादः ।]

यापि युक्तिरपदिष्टा – विज्ञानमात्रस्थितावयविनिराकरणपरा वृत्त्यनुपपत्त्यादिरूपा – "न किल अवयवी एकदेशेन वर्त्तते, नापि सर्वात्मना । एकदेशवृत्त्यभ्युपगमे हि अवयविनो भेदप्रसंगः । अथ सर्वात्मना वर्त्तते; तर्हि अन्यत्रावृत्तिप्रसंगः" इत्यादिका; सापि न युक्तियुक्ता । कथम् ? किम् एकदेशशब्देन अवयवी अभिधीयते, अवयवो वा ? यदि अवयव्यभिधीयते; तदा एकदेशेनैव सर्वत्र वर्त्तत इति ब्रूमः, स्वकारणान्नियमितस्य तथाभूतस्योत्पत्तेः ।

अथ अवयवोऽभिधीयते तदेकदेशशब्देन; तदा न एकदेशेन अवयवी वर्त्तते, अवय[व]स्य अवयवे वृत्त्ययोगात् । भवतु वा अवयवेषु वृत्तेरभावोऽवयविनः, तथापि असत्त्वं न सिद्ध्यति, तद्देहोपलम्भस्य तदस्तित्वविधानपरत्वात् । यथा 'अनुदकः कमण्डलुः' इत्युक्ते सति उदककमण्डलुसम्बन्धाभावः प्रतीयते, न तु कमण्डलोरभावः, तदुदकस्य वा ।

[§ ७. प्रसङ्गादनुपलब्धिपदार्थस्य विचारः ।]

अथ अवयविन उपलब्धिरेव नास्ति; सा किं दृश्यानुपलब्धिः, आहोस्विद् अदृश्यानुपलब्धिः ? यदि दृश्यानुपलब्धिः; सा नोपपद्यते । दृश्यशब्देन किमपदिश्यते ? उपलब्धिलक्षणप्राप्तोऽर्थोऽभिधीयते । उपलब्धिलक्षणप्राप्तिश्च प्रत्ययान्तरसाकल्यं स्वभावविशेषश्च । एतच्चेद् विद्यते; कथमनुपलम्भः ? उपलब्धिकारकसाकल्ये सति उपलब्ध्या भवितव्यम्, नानुपलब्ध्या, तत्स्वभावनिबन्धनत्वात्तदुपलब्धेः । उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य यदि अनुपलम्भः, अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तर्हि उपलम्भः स्यात्, अनिष्टं चैतत् ।

यदि च घटविविक्तभूतलोपलम्भ एव घटस्यानुपलम्भः; तदा भूतलस्याप्युपलम्भो न भवेत्, तस्याप्युपलब्धिलक्षण-

प्राप्तत्वात् । अथ उपलब्धिलक्षणप्राप्तमुपलभ्यते भूतलम्; घटस्यापि उपलब्धिप्रसंगः । अथ भूतलज्ञाने घटस्वरूपं नावभाति, तेन तस्यानुपलम्भः, घटाभावव्यवहारः क्रियते; तदयुक्तम्; घटावष्टब्धेऽपि भूतले भूतलज्ञाने घटो नावभाति, तत्रापि घटाभावव्यवहारप्रसक्तिः ।

तथा ज्ञानस्यापि उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य संवेदनं न भवेत् । ततश्च सर्वस्यासंवेदने नानुपलब्धिः, उपलब्धेरेव यतोऽनुपलब्धिः ।

यदि च भूतलाद्युपलब्धिरेव घटानुपलब्धिः; पिशाचादेरपि सैवाऽनुपलब्धिरस्तु । भवतु, को दोषः? पिशाचाभावविनिश्चयः स्यात् । अथ न भवति पिशाचाभावविनिश्चयः; कुम्भाभावविनिश्चयाभावप्रसंगः स्यात् । अथ निरालम्बनज्ञानं दृश्यस्याऽनुपलब्धिः; नहि भवतां पक्षे निरालम्बनज्ञानमस्ति स्वांशपर्यवसितत्वात् ।

अथ अदृश्यानुपलम्भः अवयव्यनुपलम्भः; सोऽपि तत्सत्तां न व्यावर्त्तयति, यथा उपलभ्यमानत्वं वस्तुस्वरूपम्, तथा अनुपलभ्यमानत्वमपि वस्तुस्वरूपमेव । यथा कार्यस्य स्वकारणाजनकत्वं वस्तुस्वरूपं तथा अनुपलभ्यमानत्वमपि वस्तुस्वरूपमेव । नहि स्वकारणाजनकत्वे वस्तुस्वरूपमतिवर्त्तते । तथा अवयव्यपि कार्याजनकत्वेऽपि न स्वरूपं हास्यति, स्वहेतोरेव कार्याजनकात्मकस्योत्पत्तेः ।

[§ ८. अवयविनिराकरणे प्रयुक्तस्य रक्तारक्तत्वप्रसञ्जनरूपस्य साधनस्य निरासः ।]

यदपि साधनमन्यदुपदिष्टम् – रक्तारक्तप्रसंगरूपम्; तदप्यसत्, रक्तता नाम का अवयविनः? किं नीलगुणात्मकत्वम्, आहोस्वित् नीलगुणाधिकरणत्वम्, नीलगुणाधिकरणद्रव्यसंयोगित्वं वा, तदविरलदेशोत्पादो वा?

यदि तावन्नीलगुणात्मकत्वं रक्तता; तदयुक्तम्, स्फटिकपटादेरनीलात्मकत्वात्। अथ नीलगुणाधिकरणत्वं रक्तता; साप्यनुपपन्ना, स्फटिकपटादेरवदातरूपयोगित्वात्।

अथ नीलगुणाधिकरणद्रव्यसंयोगित्वं रक्तता; सा स्वयमनभ्युपगता कथमवयविनं व्यावर्त्तयति? अथ परेण इष्टा; यथेष्टा तथाऽविरोधित्वेनाऽभ्युपगता, नहि संयोगावयविनोर्विरोधोऽभ्युपगम्यते परेण यथाकृतकत्वाऽनित्यत्वयोः, साऽविरुद्धा कथमवयविनं विपर्यासयति? 'रक्तताधिकरणश्च, नास्ति च' इत्यसंगतम्। यथा–नास्ति शब्दः कृतकत्वात्–तादृगेतत्।

अथ रक्तता नास्ति घटस्य; तथापि असत्त्वं न सिद्ध्यति। रक्तताभावे तु अभावः कथं भवेत्? तदभावे विज्ञानाभावप्रसंगः।

अथ एकस्य विरुद्धावेतौ रक्तताऽरक्तताकारौ; केनेष्टौ विरुद्धतया? नीलद्रव्यसंयोगो हि रक्तता, तदभावोऽरक्तता, तौ च अर्थान्तरभूतौ। न च तयोर्भेदे अवयविनो भेद उपपद्यते, ताभ्यां तस्य भिन्नत्वात्। न च अन्यस्य भेदे अन्यस्य भेद उपपद्यते, विज्ञानभेदप्रसंगात्। यदि च रक्तारक्तभेदेन अवयवी भिद्यते तदा अवयविद्वयं स्यात्, नाऽसत्त्वम्, विज्ञानाऽव्यतिरेकित्वं वा।

अथ अविरलदेशोत्पादो रक्तता नीलद्रव्यपटयोः; तथापि असत्त्वं न सिद्ध्यति, संस्कृतानां सत्त्वाभ्युपगमात्।

[§ ९. अवयविनिराकरणे प्रयुक्तस्य आवृतानावृतत्वप्रसङ्गस्य खण्डनम्।]

यच्चान्यत् साधनमुक्तम् – आवृताऽनावृतप्रसंगरूपम् – "एकस्मिन्नवयवे आवृते आवृतः, अनावृते अनावृतः"; तदेतदयुक्तम्। तद्यदि अवयवावरणे अवयवी आवृतोऽनावृतो वाऽभ्युपगम्यते परैः, तदवयवानामतीन्द्रियत्वेऽपि हि उपलम्भाभ्यु-

पगमात्। न च अवयवानामावृतत्वेऽनावृतत्वे वा अवयव्यावृतोऽनावृतो वा। अपि तु यदा वस्त्राद्यावरणेन देवदत्तेन्द्रिय-घटसम्बन्धविघातः क्रियते तदा 'आवृतः' इत्यपदिश्यते। यस्य तु वस्त्रादिनाऽऽवरणेन देवदत्तेन्द्रिय-घटसम्बन्धविघातो न क्रियते, तदपेक्षया अनावृतव्यपदेशः। यथा भवत्पक्षे स्वकारणानुत्पादकत्वेन अजनकत्वमभिधीयते, न च स्वरूपभेदमासादयति ॥ छ ॥

[§ १०. अवयविनिराकरणप्रयुक्तस्य चलाचलत्वकृतस्य अवयविभेदप्रसङ्गस्य प्रत्यादेशः।]

यदपि अपरमभिहितम् – चलाचलत्वसाधनम् – "अवयवे चलति चलत्यवयवी, अवयवान्तरे चाऽचलति न चलति – ततश्चलाचलत्वे अवयविनो भेदप्रसंगः"; तदेतदयुक्तम्, चलनस्य स्वयमनभ्युपगमात्। तद्भावे कथं तेन अवयवी भिद्यते? अथ चलनं विद्यते; तर्हि इदं वक्तव्यम् – स्वविषयलक्षणम्, चलनरूपार्थस्य उत्पत्तेः। अथ परेणेष्टं चलनम् इति कृत्वा व्यपदिश्यते; सत्यम्, इष्टं परेण। न तु अवयवे चलति अवयविनश्चलनमिष्टम्, ततो भिन्नत्वात्। नाप्यवयवान्तरस्याचलने अवयविनोऽचलनमिष्यते, तस्यान्यत्वात्। अपि तु चलनयुक्तः चलतीति व्यपदिश्यते। चलनविकलो निष्कम्प इत्यभिधीयते।

अथ तदेव द्रव्यम् उपजातक्रियं चलति अनुपजातक्रियं च न चलति; सत्यम्, तदेव चलति, तदेव न चलति। नत्व(न्व)वयविनो भेदः प्रसज्यते; न प्रसंगः, चलनस्य ततोऽन्यथा(न्यत्वात्)। चलाचलव्यपदेशश्च अन्योपाधिकृतः। यथा भवत्पक्षे ज्ञानं कार्यं कारणं च व्यपदिश्यते – स्वकार्यापेक्षया कारणम्, स्वकारणापेक्षया कार्यम्, न च तस्य भेदोऽस्ति, तथा अवयविचलाचलत्वेन न भेदो दृश्यते।

[§ ११. अवयविनिराकरणे प्रयुक्तस्य 'सर्वावयवग्रहणेन' इत्यादिविकल्प-जालस्य निरासः]

यदप्युक्तम् – " किं सर्वावयवग्रहणेन अवयवी गृह्यते, किं वा कतिपयावयवग्रहणेन गृह्यते? यदि च सर्वावयवग्रहणेन गृह्यते; तदा मध्यभाग-परभागाऽग्रहणे अवयव्यग्रहणप्रसंगः। अथ कतिपयाऽवयवग्रहणे अवयविग्रहणमभ्युपगम्यते; तदा करांह्रिग्रहणे अवयविग्रहणं स्यात्। अथ अवयवग्रहणमन्तरेण अवयविग्रहणम्; तदा सर्वदा ग्रहणं स्यात्। " तदेतत् सर्वमयुक्तम्, न सर्वावयवग्रहणपूर्वकमवयविग्रहणम्, नापि कतिपयावयवग्रहणपूर्वकमवयविनो ग्रहणम्, अपि तु तद्देहेन्द्रियसन्निकर्षालोकादिसाकल्ये सति उपलम्भः। अन्यथा हि अवयवग्रहणपूर्वके ग्रहणेऽभ्युपगम्यमाने अवयव्यादेरनुपलम्भः स्यात्।

[§ १२. अवयविनिराकरणपरायाः ' यत्र भिन्ने न तद्बुद्धिः ' इत्यादि-युक्तेः खण्डनम्।]

यदप्यन्यदुक्तम् – अवयविनिराकरणपरं साधनम्–

" यत्र भिन्ने न तद्बुद्धिर्धिया च न सा।
तद् घटं तु संवृतिसत् परमार्थसदन्यथा "

तत्र यदि अवरुग्णे घटे घटबुद्धिर्न भवति घटस्याऽपरमार्थसत्त्वम्; नीलेऽपि प्रत्यस्तमिते नीलबुद्धिर्न भवति नीलस्याऽस्तमितत्वात् तदा नीलमपि अपरमार्थसत् प्राप्तम्। तथा, विज्ञानमस्तमुपगतं न वेद्यते तदप्यपरमार्थसत् प्राप्नोति।

अथ प्राक्तने विज्ञाने नीलान्तरे प्रत्यस्तमिते ज्ञानान्तरं वेद्यते नीलान्तरं च, न तु घटेऽवरुग्णे घटान्तरं वेद्यते; तत् किम्–उत्पन्नं न वेद्यते, आहोस्विदनुत्पन्नम्? तद्यदि उत्पन्नं न गृह्यते; तत्रापि हि विज्ञानोत्पादनसमर्थमुत्पन्नं न गृह्यते, तद्विपरीतं वा?

तद्यदि विज्ञानोत्पादनसमर्थमुत्पन्नं न गृह्यते; तदयुक्तम्, यदि विज्ञानोत्पादनसमर्थमुत्पन्नं घटजातम्, तदवश्यं गृह्यते अन्यथा नीलस्याप्यग्रहणं स्यात्। अथ विज्ञानजनकोत्पन्नस्याग्रहणम्; तदा नीलस्याप्यनया वृत्त्याऽग्रहणे तस्याप्यपरमार्थसत्त्वं स्यात्।

अथ अनुत्पन्नघटजातं न वेद्यते तेन तस्य अपरमार्थसत्त्वम्; नील-ज्ञाने अपि अनुत्पन्ने न वेद्य(द्ये)ते तयोरपि अपरमार्थसत्त्वमापद्यते।

अथ अवरुग्णे घटे घटान्तरं न प्रादुर्भवति विज्ञानजनकं कपालावस्थायाम्; यद्येवं निर्विकल्पके रूपज्ञाने नष्टे नान्यन्निर्विकल्पकं रूपज्ञानं जायते सविकल्पकावस्थायाम्। तथा, स्थूले नीले नष्टे नान्यत् स्थूलं नीलान्तरं भवति सूक्ष्मनीलोत्पादकाले। अथ तत्र नीलरूपताऽनुगता ज्ञानरूपता वाऽनुगता; यद्येवम् इहापि कपालघटयोः स्वलक्षणरूपताऽनुगता।

यदप्युक्तम् – " धिया च न सा – धिया बुद्ध्या विवेच्यमाने न सा घटबुद्धिर्भवति नीलबुद्धिस्तु भवति "; तदेतदयुक्तम्, किंभूतया बुद्ध्या विवेच्यते – किं निरालम्बनया, आहोस्वित् सालम्बनया? तद्यदि निरालम्बनया विवेच्यते; तदा विवेचनीयार्थो वक्तव्यः। यदि च निरालम्बनया विवेच्यमानस्य असत्त्वम्; तदाऽनया रीत्या नीलादेरप्यसत्त्वमापनीपद्यते। न च निरालम्बनमतिरस्ति।

अथ सालम्बनया घटो विवेच्यते; सा किम् आत्मालम्बना, आहोस्वित् स्वकायव्यतिरिक्तालम्बना? तद्यदि स्वकायालम्बना सती घटस्य विवेचिका; तदा विवेचनीयार्थो वक्तव्यः। यदि नाम स्वकायमात्रावभासा समुत्पन्ना; घटस्याऽ-

सत्त्वे किमायातम् ? अथ तस्यां बुद्धौ घटो [ना]वभाति तेन तस्याऽसत्त्वम्; अनया भङ्ग्या नीलादेरपि असत्त्वमापद्यते।

अथ स्वकायव्यतिरिक्तार्थालम्बनया घटो विवेच्यते; किं [घटालम्बनया] घटो विवेच्यते, घटव्यतिरिक्तार्थालम्बनया वा? तद्यदि घटालम्बनया विवेच्यते; तत्रापि विवेचनार्थो वक्तव्यः। तया किं क्रियते—किं घटस्याऽसत्त्वं प्रद्योत्यते, आहोस्वित् सत्त्वम्, उभयं वा, न किंचिद्वा? तद्यदि असत्त्वम्; तदयुक्तम्, नहि अन्यविषया सती एतस्य प्रबोधिका भवितुमर्हति अतिप्रसंगात्, न जातु रूपविषयविज्ञान(नं) रसस्थापनाय अलम्।

अथ सत्त्वं प्रद्योत्यते; तथापि सत्त्वम्। स(सं)वृतिसत्त्वे वा नीलादेरपि संवृतिसत्त्वप्रसंगः। अथ उभयं प्रतिभाति; न, तदभावस्य अविषयत्वात्। यथा विज्ञानस्य विषयतां न याति तथा प्रागेव प्रपञ्चितम्। किंच, उभयं प्रद्योतयन्त्या भावोऽपि प्रद्योतितस्तया। तत्प्रद्योतने च कथं घटस्य संवृतिसत्त्वम्?

अथ न किंचिदपि प्रद्योत्यते तया; कथं तर्हि घटविषया सा अपदिश्यते? अथ घटभिन्नार्थविषया सा; तत्र वर्तमाना न कुम्भस्य अस्तित्वविधायिका, न व्यावर्त्तिका।

अथ तस्यां बुद्धौ कुम्भो न प्रतिभाति तेन तस्य संवृतिसत्त्वम्; यद्येवम्—बुद्धिविषयोऽपि बुद्ध्यन्तरे न प्रतिभाति, तस्याप्यायातं संवृतिसत्त्वम्। सर्वज्ञानानि च इतरेतरज्ञाने न प्रतिभान्ति – सर्वेषां संवृतिसत्त्वं प्राप्तम्। न चैतदभ्युपगम्यते।

[§ १३. विज्ञानवादिना साधितस्य बाह्यार्थविलोपस्य निरासः।]

यदप्यन्यत्साधनमपदिष्टं बाह्यार्थापह्नवे – "न किल विज्ञानमसंविदितम् अर्थस्य वेदनम्। यद्यविदितमर्थवेदनं तदाऽजातेऽपि ज्ञानेऽर्थो वेद्यः स्यात्, सन्तानान्तरज्ञाने च जाते

१ –या–घृष्टम्

देवदत्तवेद्यः सोऽर्थः स्यात्, न चैतदुपपद्यते । तथा स्वसन्ततिपतिते परोक्षज्ञाने जातेऽर्थो न वेद्यः स्यात् । अथ ज्ञानान्तरविदितमर्थस्य वेदनम्; तदपि ज्ञानान्तरविदितम् इत्यायातमान्ध्यं जगतः । अथ स्वसंविदितं तदर्थस्य वेदनम्; ततश्च सहोपलम्भाद् एकोपलम्भतो वा बाह्यार्थविलोपः प्राप्तः ” ।

तदेतदयुक्तम् । यत्तावदुक्तम्–‘ज्ञानान्तरविदितं यदि ज्ञानम् अर्थस्य वेदनं तदा अनिष्ठा प्राप्नोति’। एतदनभ्युपगमेनैव पर्युदस्तम् । अपि तु अविदितमेव ज्ञानम् अर्थस्य वेदनम् । ननु अजातेऽपि ज्ञाने अर्थो वेद्यः स्यात्; न वेद्यः, वेदनस्याभावाद् अर्थो न वेद्यते, न तु वेदनवेदनस्याभावादर्थो न वेद्यते ।

यदप्यन्यदुक्तम्–‘सन्तानान्तरजाते च ज्ञाने सोऽर्थो वेद्यः स्यात्’; तदप्ययुक्तम्, देवदत्तसन्ततिपातिते जाते देवदत्तस्य सोऽर्थोऽपरोक्षः, न तु सन्तानान्तरपतिते ज्ञाने, अन्यथा हि सन्तानान्तरपतितं विज्ञानं स्वसंविदितरूपं जातम् । तस्मिन् जाते सोऽर्थो देवदत्तस्याऽपरोक्षः स्यात् ।

अपि च, रूपज्ञानं किं रूपगृहीत्यात्मकम्, आहोस्विद् अगृहीत्यात्मकम्? तद्यदि रूपगृहीत्यात्मकम्; तदा गृहीतमेव रूपं[1] ज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यं भवतु स्वसंवेद्यं वा, न ज्ञानग्रहणपुरस्सरमर्थस्य ग्रहणम् ।

अथ रूपगृहीतिस्वभावकं न भवति रूपज्ञानम्; एवं तर्हि स्वसंवेद्यं भवतु व्यतिरिक्तसंवेदकसंवेद्यं वा भवतु अवेद्यं वा, न रूपस्य प्रत्यक्षता, यथा रसज्ञानस्वसंवेद्यत्वेऽपि न रूपस्य प्रत्यक्षता तद्वत् रूपज्ञानसद्भावेऽपि न रूपस्य प्रत्यक्षता रूपगृहीतिस्वभावतयाऽनुपपत्तेः ।

---

१ अत्रानुस्वारः पश्चाल्लुप्तो दृश्यते ।

[§ १४. बाह्यार्थविलोपायोपयुक्तस्य सहोपलम्भसाधनस्य विकल्प्य दूषणम् ।]

यदप्युक्तम् – ‘स्वसंवेद्यत्वे सहोपलम्भाद् विज्ञानार्थयोरैक्यम्’ – एतदप्यपनीतं द्रष्टव्यम्, स्वसंवेद्यत्वाऽसंभवादेव । न च सहोपलम्भाद् अर्थस्याऽभावः सिद्ध्यति अव्यतिरेको वा ।

सहोपलम्भो हि ज्ञानैकधर्मः, अर्थैकधर्मः, उभयधर्मो वा ? तद्यदि ज्ञानैकधर्मः; तदा सहशब्दार्थो नोपपद्यते । ज्ञानैकधर्मत्वे च ज्ञानस्यैवास्तित्वस्थापकं नार्थस्य व्यतिरेकाभावावेदकं सहोपलम्भसाधनम् अतद्धर्मत्वात् । अथ अर्थैकधर्मः सहोपलम्भः; अत्रापि सहशब्दार्थो वक्तव्यः । अर्थैकधर्मत्वे वा अर्थस्यैव सत्तां व्यवस्थापयति, ततश्च विपरीतसाधनाद् विरुद्धः ।

अथ उभयधर्मः; कथमुभयधर्मत्वे अन्यतरलोपः ? अन्यतरलोपश्चेत्; नोभयधर्मता उपपद्यते । ‘उभयधर्मता च अन्यतरलोपश्च’ इति व्याहतमपदिश्यते । उभयधर्मत्वे च ‘अर्थस्यैव विलोपो न ज्ञानस्य’ इत्यत्र नियामकं वक्तव्यम् । तच्च नास्ति । न च उपलम्भोऽन्यतरसद्भावं व्यावर्त्तयति, सद्भावेऽपि दृष्टत्वात् यथा ज्ञाने ।

अपि च कस्यात्र पक्षीकरणम् – किं विज्ञानस्य, उत अर्थस्य ? तद्यदि ज्ञानं पक्षयसि; तस्य किं साध्यते – अभावः, अव्यतिरेको वा ? तद्यदि अभावः; स किं ज्ञानस्य, उत अर्थस्येति ? यदि ज्ञानस्य तदा अभ्युपेतहानम्, हेतोश्च पक्षधर्मता न लभ्यते । अथ अर्थस्य; तदा असम्बद्धत्वम् – ज्ञानं पक्षयसि अर्थो नास्तीति व्याहतमपदिश्यते, सहोपलम्भस्य च व्यधिकरणत्वम् ।

अथ अव्यतिरेकः साध्यते; स किं ज्ञानस्य, आहोस्विद् अर्थस्य ? तद्यदि अर्थस्य; तदाऽसम्बद्धाभिधातृत्वम् – ज्ञानं

पक्षयसि, अर्थस्य चाऽव्यतिरेकप्रतिपादनं करोसि इति व्याहतमपदिश्यते, अर्थाव्यतिरेको हि अर्थधर्मः।

अथ ज्ञानस्यैव अव्यतिरेकप्रतिपादनं क्रियते; तत्किं स्वस्मात्स्वरूपादव्यतिरिक्तम्, आहोस्वित् पररूपादव्यतिरिक्तम्? तद्यदि स्वस्मात् स्वरूपादव्यतिरिक्तं ज्ञानम्; तदा अविवादेन सम्बोधयितव्याः।

अथ परस्मादव्यतिरेकप्रतिपादनं क्रियते; स परात्मा तात्त्विकः, अतात्त्विको वा? तद्यदि अतात्त्विकः; ततोऽव्यतिरिक्तं ज्ञानमपि अतात्त्विकं भवेत्।

अथ तात्त्विकः; सोऽप्यवधारितदेहो वा, अनवधारितदेहो वा? तद्यदि अवधारितदेहः; स किं भिन्नाकारतया अवगतः, अभिन्नाकारतया वा? यदि भिन्नाकारतया अवधारितः; तदा भिन्नाकारावगाहकविज्ञानदूषितपक्षत्वेन सहोपलम्भहेतोरसिद्धता कालात्ययापदिष्टता वा।

अथ अभिन्नस्वभावतयाऽवधारितः; न तर्हि परात्मा, 'परात्मा च अभिन्नस्वभावतयाऽवधारितः' इति च व्याघातः। किंच, अभिन्नस्वभावतया यदि प्रागेवाऽवगाहितः; तदा किं तत्र सहोपलम्भसाधनेन प्रयोजनम्? निष्पादितक्रिये कर्मणि साधनं सा[ध?]नन्यायमतिपतति।

अथ अनवधारितदेहः; स परात्माऽस्तीति कथं जानीषे? न च अवधारितानवधारिताकारयोः एकत्वं बहुविदो वदन्ति। अनवधारिताकारैकत्वे च ज्ञानस्याप्यसंवेदनं प्रसक्तम्।

अपि च सहोपलम्भः किं ज्ञानयोः, उत अर्थयोः, ज्ञानार्थयोः वा? तद्यदि ज्ञानयोः सहोपलम्भः; तदा न द्वितीयस्याभावोऽव्यतिरेको वा सिद्ध्यति, असिद्धश्च हेतुः, दृष्टा-

न्तश्च साधनविकलः – द्विचन्द्रज्ञाने [न] ज्ञानयोः सहोपलम्भोऽस्ति। अथ अर्थयोः; तदाऽसिद्धो हेतुः, न चान्यतरार्थलोपः। लोपे वा अन्यतरसिद्धौ बाह्यार्थव्यवस्थितिः। अथ ज्ञानार्थयोः सहोपलम्भः; तथापि हेतोरसिद्धता, दृष्टान्तश्च साधनविकलः।

अथ सहोपलम्भात् इत्यस्यायमर्थः – एकोपलम्भात्। एकोपलम्भेन ज्ञानार्थयोरेकता उपपाद्यते।

ननु एकोपलम्भाद् इत्यस्य कोऽर्थः – किं ज्ञानार्थयोः एक एव उपलम्भः, उत एकस्यैवोपलम्भः, आहोस्विद् एकेनैव उपलम्भ इति। तद्यदि ज्ञानार्थयोः एक एव उपलम्भ इति; न तर्हि अर्थाभावसिद्धिः। संवेद्यमानत्वेन विज्ञानसत्तावद् अर्थसत्ताऽपि सुस्थिता। असिद्धोऽप्ययं हेतुः नीलादावनेकोपलम्भसंभवात्। अनैकान्तिकोऽप्ययं हेतुः यस्मादनेकनीललोहिताद्याकाराणाम् एकोपलम्भेऽपि नान्यतमव्यावृत्तिः अभेदो वा दृष्टः।

अथ एकस्यैव उपलम्भः एकोपलम्भः; तदेकं किं विज्ञानात्मकम्, आहोस्विद् ज्ञानात्मकम्? तद्यदि विज्ञानात्मकम्; तदसत्, नील-मणि-कुम्भादेर्विज्ञानोत्पादकत्वेन स्वरूपमवधार्यते न तु विज्ञानात्मतया, यस्माद् 'अनेन उत्पादितं विज्ञानम्' 'अत्र ममोत्पन्नम्' इत्येवं प्रवदन्ति सन्तः न तु 'इदमेव ज्ञानम्' इत्येवं वक्तारो भवन्ति। यथा हि वस्तुत्वेन प्रतीयमानं नील-जलादिकम् एकोपलम्भानुरोधेन नावस्तुत्वेन प्रतिपद्यते तथा अविज्ञानात्मकतया अध्यवसीयमानं न विज्ञानात्मतया व्यवस्थापयितुं पार्यते, अन्यथा वस्तुत्वहानिप्रसंगात्, अथ(था)विज्ञानात्मतया तदेकमवधार्यते तदेष्टसिद्धेरसिद्धिः, सिद्धसाध्यता च स्यात्।

अथ एकेनैवोपलम्भः; सोऽप्यनुपपन्न एव, जलचन्द्रार्कादेः बहुभिरुपलभ्यमानत्वात्॥ छ॥

[§ ९६. अवयविनिराकरणद्वारा स्थापितस्य क्षणिकत्वस्योत्थापनम्।]

यदप्युक्तम् – "अवयविनिराकरणे क्षणिकत्वम् – यदि हि किल अक्षणिको भवति भावः तदा भवति अवयवाऽवयविभावः, तदभावे तत्स्व(तस्याऽ)भावात्। अथ कथं तस्याभावः? स्थायिनोऽर्थक्रियाऽकरणात्। तदेव कथम्? कथ्यते – किं येन स्वभावेन आद्यामर्थक्रियां करोति किं तेनैव स्वभावेन उत्तरोत्तराण्यपि कार्याणि करोति, अथ समासादितस्वभावान्तरः करोति? यदि तेनैव करोति; तदा एककालयोगित्वं सर्वकार्याणां प्रसज्यते, क्रमकरणं हीयते तस्य। न ह्येकस्वभावायत्तो वस्तूनां कालविकल्पो नाम। विकल्पे वा एकस्वभावायत्ततामतिक्रामन्ति। अथ स्वभावान्तरापत्तौ जनयति; स्वभावान्तरापत्तिश्च पूर्वाकारपरिहारनान्तरीयकरूपा। तदपरित्यागे न आकारान्तरानुप्रवेशोऽस्ति, आकारयोः एकत्वायोगात्। अथ पूर्वाकारपरिहारः; तदा एतदेव क्षणिकत्वं यत् पूर्वापरकार्यकारणम्।"

तदेतदयुक्तम्। यदि क्रमेण कार्यं न करोति युगपदपि कथं करोति? एकं नीलस्वलक्षणमनेकं विज्ञाननीलादिकं कार्यं करोति इति वः सिद्धान्तः। तदनेकं कार्यं किम(किमेके)नाकारेण करोति, आकारभेदेन वा? तद् यद्येकेन करोति; तदाऽऽयाता सर्वकार्याणामेकाकाररूपता एकत्वम्, एकस्य चानेकत्वमापद्यते। अथ आकारभेदेनानेककार्यं जनयति; आकारभेदात् तदेकत्वं व्यावर्त्तते, यद्व्यावृत्तौ नैकमनेकं कार्यं करोति।

अथ इत्थंभूतं स्वहेतुभ्यस्तदुद्भूतं यदनेकयुगपत्कार्यकरणात्मकम्; यद्येवं ममापि क्रमभाव्यनेककार्यकरणात्मकं समुद्भूतं स्वहेतुभ्यः।

[§ १६. क्षणिकत्वस्थापनाय प्रयुक्तस्य विनाशहेत्वभावस्य विनाशं विकल्प्य दूषणम् ।]

यदप्यन्यदुक्तम् – "विनाशहेत्वभावात् क्षणिको भावः" तदनुपपन्नम्; कथम्? ते इदं प्रष्टव्याः – विनाशोऽस्ति वा, न वा? तद्यदि नास्ति; कस्य सहेतुकत्वं निर्हेतुकत्वं वा विचारयन्ति मनीषिणः। नहि वन्ध्यासुतस्याभावे सहेतुकत्वं निर्हेतुकत्वं वा विचारयन्ति सन्तः।

अथ विद्यते विनाशः; स वस्तुस्वभावानुबन्धी वा, विच्छिन्नोत्पन्नो वा? तद्यदि वस्तुस्वभावानुबन्धी; न तर्हि निर्हेतुकत्वम्, वस्तुनो वा निर्हेतुकत्वप्रसंगः, सत्स्वभावानुबन्धित्वव्यतिरेकप्रसंगो वा।

अथ व्यतिरिक्तः; तस्य निर्हेतुकत्वे कोपपत्तिः? सहेतुकत्वे नियतदेशकालयोगित्वेनोपलब्धिः। यदि नाम निर्हेतुको विनाशः वस्तूनां क्षणिकत्वे किमायातम्, वस्तुभ्योऽर्थान्तरत्वात्?

[§ १७. क्षणिकत्वोपयोगिनः विनाशनिर्हेतुकत्वस्य विकल्पपञ्चकेन प्रतिवदनम्।]

अथ निर्हेतुकत्वे वस्तूत्पत्त्यनन्तरमात्मानं समासादयति विनाशः; तदयुक्तम्। अत्र पंच पक्षा भवन्ति – वस्तूत्पत्तेः पूर्वम्, सह वा, अनन्तरं वा, कालान्तरे वा भवनम्, न वा भवनम्? तद्यदि पूर्वभवनम्; तदा भावोद्भवानुपपत्तिः। अथ सह; तदा भावानुपलम्भप्रसंगः। तत्सद्भावोपलम्भे वा सततोपलम्भप्रसंगः, अभावस्याऽकिंचित्करत्वात्। तथाऽनन्तरभूतेऽपि विनाशे सततोपलम्भप्रसंग एव। अथ कालान्तरे भवनम्; न तर्हि क्षणिकत्वं वस्तूनां विनाशस्य निर्हेतुकत्वे सत्यपि। अथ नैव भवनं विनाशस्य; तदा सर्वभावानां नित्यत्वमापद्यते, विनाशस्याऽसंभवात्।

अथ स्वहेतुके विनाशो नावश्यंभावो विनाशस्य, वस्त्रे रागवत् कारणव्यापारपराधीनवृत्तित्वात्, तदभावे तस्याभावः कथं भवेत्? तदयुक्तम्, स्वहेतोरेव ध्रुवभाविविनाशार्हस्योत्पत्तेः। भवतु वाऽभावस्यानुद्गमः न कश्चिद्विरोधः। न तु निर्मोक्षप्रसंगो गुणानां विनाशानुत्पत्तेः; नेदमस्मद्विरोधेषु राजते, मोक्षपरिकॢप्त्यकरणात्।

अथ कृतकस्य नित्यत्वं प्राप्नोति विनाशासंभवे सति; सावधिका सत्ता अनित्या, निरवधिका तु नित्या, तत्कथं कृतकस्य नित्यत्वं विनाशासंभवे सति? भवतु वा नित्यत्वम्, न दोषोऽस्ति।

[§ १८. प्रत्यक्षग्राह्यत्वेन उपपादितस्य क्षणिकत्वस्य खण्डनम्।]

यदप्यपदिष्टम् – "प्रत्यक्षेण क्षणिकत्वं वस्तूनां विषयीक्रियते, अतीतानागतकालविकला वस्तुसत्ता वर्तमानकालालिङ्गिता प्रत्यक्षेण आत्मसात्क्रियते"–तदेतदयुक्तम्, अतीतानागतवर्तमानकालानां किं प्रतीयमानादव्यतिरेकित्वम्, व्यतिरेकित्वं वा? तद्यदि अव्यतिरेकित्वम्; तदा कालत्रयानुमतं वस्तूपलब्धम्। अथ व्यतिरेकित्वम्; वस्त्ववगमे न अतीतानागतवर्तमानकालावगतिरस्ति। वस्तुमात्रोपलब्धेस्तदस्तित्वं सिद्धम्, तदभावश्च निष्प्रमाणकः।

अथ स एव भावोऽभावः; भावोऽन्यस्तर्हि वक्तव्यः, अभावस्य सर्वोपाख्याविनिवृत्तिलक्षणत्वात्। अथ कालान्तरे तस्य अन्योऽभावः; तस्याकिंचित्करत्वात् सत्ताखण्डनं प्रति।

अथापरकार्याकर्तृत्वं कालान्तरे तदभावः; तदयुक्तम्, सर्वापरकार्यकर्तृत्वमेकस्य प्रत्यक्षात् प्रत्यभिज्ञानेन च पूर्वोदितानुभवावेदिता सत्ता आत्मसात्क्रियते सैव सत्ता प्रत्यभिज्ञानेन आत्मसात्क्रियते। कथं पुनर्वेत्सीति चेत्; प्रत्यभिज्ञा-

नादेव जानीमः। सैव सत्ता प्रतिभाति। आद्यानुभवेपि सा सत्ता प्रतिभाति। कुतोऽवगता? एवं ज्ञानयोरपि हेतुफलभावावधारणं न शक्यते कर्त्तुम्, तदभावान्न कार्यानुमानम् ॥ छ ॥

[§ १९. बौद्धसंमतस्य स्वभावानुमानस्य निरासः।]

तथा स्वभावानुमानस्यापि न सम्बन्धावधारणमुपपद्यते, तदभावात्। भिन्नयोः सम्बन्ध(द्ध)योः सम्बन्धो दृष्टः, नह्येकस्य सम्बन्ध उपपद्यते।

किंच, कृतकत्वेन अनित्यत्वानुमानं क्रियते – किमवगतेन, अनवगतेन वा? तद्यदि अनवगतेन; तत्कथं स्वयमनु (मनव)गतं साधनं भवितुमर्हति? अथावगतेन; तस्यां कृतकत्वावगतौ अनित्यत्वं प्रतिभाति वा, न वा? यदि न प्रतिभाति; कथं प्रतिभासमानाऽप्रतिभासमानयोस्तादात्म्यम्? अथ प्रतिभाति; किमनुमानेन? निष्पादितक्रिये कर्मणि साधनानर्थक्यम्, अन्यथा हि कृतकत्वप्रतिपत्तावपि अनुमानमुपादेयं स्यात्।

अथ कृतकत्वं प्रतिपन्नमिति कृत्वा नानुमानमुपादीयते; तत्स्वभावानुबन्ध्यनित्यत्वमप्यवगतम्, किमनुमानेन? अवगते च अनित्यत्वे यत् साधनमुपादीयते तत् कदाचिदनित्यताप्रतिपत्त्यर्थम्, कदाचिच्च नित्यतासमारोपव्यवच्छेदार्थम्, कदाचित्व(त्त्व)नित्यताव्यवहारार्थम्?

तद्यदि अनित्यताप्रतिपत्त्यर्थम्; सा ज्ञातैव, व्यर्थः प्रयासः।

अथ समारोपव्यवच्छेदार्थम्; समारोपव्यवच्छेदः अनित्यत्वाद्व्यतिरिक्तः, व्यतिरिक्तो वा? तद्यद्यव्यतिरिक्तः; असावपि अनित्यत्वावगमेनैवावगतत्वान्न साधनान्तरमपेक्षते।

अथ व्यतिरिक्तः; स किं वस्तुभूतः, अवस्तुभूतो वा? तद्यदि वस्तुभूतः; तेन सह शब्दगतकृतकत्वस्य तादात्म्यानुपपत्तिः। तादात्म्ये वा तदवगमेनैवावगमात् नानुमानमपेक्षते।

अथ अवस्तुभूतः; स किं क्रियते, ज्ञाप्यते वा? तद्यदि क्रियते; तदयुक्तम्, सर्वोपाख्याविनिर्मुक्तस्य करणायोगात्, करणे वा वस्तुत्वप्रसंगः। अथ ज्ञाप्यते; तेन सह कृतकत्वस्य सम्बन्धव्यतिरेकात्, अव्यतिरेके वा तस्य वस्तुत्वं कृतकत्वासत्त्वं वा।

अथ अनित्यताव्यवहारः क्रियते – यो हि कृतकत्वं जानन्नपि अनित्यताव्यवहारं न करोति स हि अत्र व्यवहार्यते; सोऽपि व्यवहारः अनित्यत्वादव्यतिरिक्तः, व्यतिरिक्तो वा? यद्यव्यतिरिक्तः; असावपि प्रतिपन्न एवानुमानिकः।

अथ व्यतिरिक्तः; स किं कृतकत्वेन उत्पाद्यते, ज्ञाप्यते वा? यदि उत्पाद्यते; तदा न शब्दोत्पादकहेतूनामनुमानत्वम्।

अथ ज्ञाप्यते; तेन साकं सम्बन्धोऽभिधेयः। न तादात्म्यलक्षणः, ज्ञाप्याद् भिन्नत्वात्।

अथ तदुत्पत्तिलक्षणः; सोऽप्यनुपपन्न एव – किं व्यवहारेण उत्पाद्यते घटः, घटेन वा उत्पाद्यते व्यवहारः? न तावद् व्यवहारेण उत्पाद्यते घटः; आदौ घटसत्ता तदनु व्यवहारः। अथ घटेनोत्पाद्यते व्यवहारः; तदा कारणानुमानम्, न स्वभावानुमानम्। तच्च स्वयमेव पर्युदस्तम् ॥ छ ॥

[१०. षड्विधार्थापत्तिप्रामाण्यस्य निरासः ।]

एवमर्थापत्त्यादीनामप्रामाण्यम्। किं पुनः अर्थापत्त्यादेः स्वरूपम्? कथं वा प्रामाण्यम्? तत्र दर्शनार्थापत्तेस्तावत् स्वरूपं व्युत्पाद्यते – रूपदर्शनान्यथानुपपत्त्या चक्षुःप्रतिपत्तिः। तथा, अनुमानपूर्विका – अनुमानादग्नित्वप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या – अग्निव्यक्तिप्रतिपत्तिः। अभावपूर्विका अर्थापत्तिः – जीवति देवदत्तः गेहे नास्ति – गेहाभावान्यथानुपपत्त्या बहिर्भावप्रतिपत्तिः। तथा, आगमपूर्विका अर्थापत्तिः –

शब्दार्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या शब्दार्थसम्बन्धनित्यताप्रतिपत्तिः। तथा अर्थापत्तिपूर्विका अर्थापत्तिः – शब्दार्थसम्बन्धनित्यताप्रतिपत्तिः। तथा, उपमानपूर्विका अर्थापत्तिः – गवयपिण्डग्रहणानन्तरं गेहावस्थितगोपिण्डे गोगवयसादृश्यावच्छिन्ने प्रतिपत्तिरुपमानात् पिण्डावच्छिन्ने वा सादृश्ये, तस्य पिण्डस्य वाहदोहप्रसवसामर्थ्यम् अर्थापत्त्या प्रत्येति। एषा षट्प्रकाराऽर्थापत्तिः।

इयं चानुपपन्ना। यदुक्तम् – 'रूपदर्शनान्यथानुपपत्त्या चक्षुरिन्द्रियं प्रतीयते'। तदयुक्तम्। चक्षुरिन्द्रियान्वयव्यतिरेकसम्बन्धावधारणमन्तरेण अन्यकारणपरिहारेण नियतकारणप्रतिपत्तिः अर्थापत्त्याऽनुपपन्ना – चक्षुरादिकरणस्य पिशाचादितुल्यत्वात् न तदवगतिः, अवगतौ वा अर्थापत्त्यनुपपत्तिः।

यदप्युक्तम् – 'अन्यथोपपद्यते' इति। अत्र काऽनुमा? अथवा रूपादिज्ञानस्यैव धर्मित्वं करणपूर्वकमिति साध्यो धर्मः कार्यत्वात् रथादिवत्।

एवं सर्वार्थापत्तिविषयत्वेन प्रयोगव्युत्पादनं कार्यम्। प्रत्यक्षपूर्वकत्वाच्च अर्थापत्तेः तदभावे तदभावात्॥ छ॥

[११. उपमानप्रामाण्यस्य निरासः।]

तथा, उपमानमपि संभवति कानन‌गतगवयपिण्डदर्शनानन्तरं गेहावस्थितगोपिण्डे गवयसादृश्यावच्छेदेन यद्विज्ञानं तद् उपमानफलम्। गोपिण्डावच्छिन्ने सादृश्ये वा यद् विज्ञानं तद्वा उपमानफलं गवयपिण्डज्ञानमुत्पादनम्। तदेतदयुक्तम्, प्रत्यक्षमूलमुपमानम्, तदपगमे तस्याप्यपगमात्।

अथ किमिदं गोगवयसादृश्यं यद् गोपिण्डग्रहणकाले नावगतम् उपमानादवगम्यते? किम् अवयवानां संस्थानम्, किं वा विषाणाद्यवयवा वा, सामान्यं वा, अथ धर्मान्तरम्? तद्यदि अवयवानां संस्थानं सादृश्यम्; तदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं

वा, न वा? तद्यदि उपलब्धिलक्षणप्राप्तम्; अवगतं तर्हि। अवगतपूर्वं यद् भवति गवयपिण्डदर्शनानन्तरं तत् स्मरणान्नातिरिच्यते ।

अथ उपलब्धिलक्षणप्राप्तमपि नोपलभ्यते; तदा गवयपिण्डेऽपि तस्य ग्रहणं नास्ति। तदग्रहणे पिण्डमात्रग्रहणे सति भवति 'मदीया गौः अनेन सदृशी' इति, तदास्व(श्व)विषयमपि स्यात् 'मदीयोऽनेन सदृशः' इति ।

अथ अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तम्; तर्हि तस्य क्वचिदपि ग्रहणम्, ततश्च महिष्यादिदर्शनेऽपि 'मदीया गौरनेन सदृशी, अश्वो वा मदीयोऽनेन सदृशः' इत्यु[प]प्लवः स्यात् ।

अथ विषाणाद्यवयवाः सादृश्यशब्दवाच्याः; ते च अवगता एव तेषु यद्भवति उत्तरकालं विज्ञानं तत् स्मृतिरूपतां प्रतिपतति ।

अथ गोगवयसामान्यं सादृश्यशब्दवाच्यम्; तच्चानुपपन्नम्, यथा च न संभवति तथा प्रागेव आवेदितम्। भवतु नाम, किं तदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं वा - पूर्ववद्विभज्य दूषणं वक्तव्यम् ।

अथ धर्मान्तरम्; तदपि ऐन्द्रियकम्, अतीन्द्रियं वा? तद्यदि ऐन्द्रियकम्; तदा तस्य पूर्वोपलम्भे सति उत्तरकालभावि यत् तस्य विज्ञानं न तत् स्मरणाकारतां परित्यजति ।

अथ तदुपलब्धिलक्षण[म]प्राप्तम्; न तर्हि तस्य क्वचिदपि ग्रहणम्। तदग्रहणे न गवयदर्शने सति 'मदीया गौरनेन सदृशी' इत्यादिज्ञानेन शक्यते भवितुम्। भवने वा गवय(या)दर्शनेऽपि स्यात् ।

[§ १. नैयायिकसंमतस्य उपमानस्वरूपस्य खण्डनम् ।]

अन्ये तु अन्यथा उपमानं व्याचक्षते विपश्चितः – " गोगवयसादृश्यं स्वज्ञानविशिष्टमुपमानम् । संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिः उपमानफलम् । " एतच्चाऽसमीचीनम् । प्रागेव वनेचरवचनादवगतं गोसदृशो गवय इति । कोऽर्थः ? गोसदृशस्य गवय इति नाम । एवं च सर्वमेव संज्ञासंज्ञिसम्बन्धावधारणं कृतम्, नोपमानं कल्पनीयम् ।

अथ संप्लवन्यायेन कल्प्यते; भवतु, तथापि संज्ञी विद्यते संज्ञा तु न विद्यते । क्वोपमानं परिकल्प्येत ?

[§ २. संज्ञाप्रतिपत्तिविषयकमतद्वयस्य निरासः ।]

एके वदन्ति – " स्वयमुच्चार्य संज्ञा प्रत्येति । " तदयुक्तम्, संज्ञाकाले सादृश्यज्ञानस्य अनवस्थितेः ।

अन्ये तु – " बुद्ध्युपस्थापिता संज्ञा प्रत्येति " एवमामनन्ति । तदयुक्तम् । अविद्यमानस्य विषयार्थता न लभ्यते – ' न सत्तामात्रेण जनकत्वेन वा ' इत्यादिना प्रागेव उपपादितम् । प्रत्यक्षपूर्वकं च उपमानमुद्गीयते । तदभावे तत्कथं भवेदव्यभिचारः येन विज्ञानोत्पादकत्वेन उपमानता, तच्चाव्यभिचारित्वं न शक्यं(क्य)विज्ञानमिति पूर्वमेवावेदितम् ॥ छ ॥

[१२. अभावप्रमाणस्य निरासः ।]

अपरे तु अभावाख्यं प्रमाणं सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकव्यावृत्तिरूपं व्याहरन्ति अभावविषयम् । तत्किमवगतम्, अनवगतं वा ? यदि अवगतम्; तत्केनावगतम् – किं मेयव्यावृत्त्या, मानव्यावृत्त्या वा, सदुपलम्भकेन वा ? तद्यदि मेयव्यावृत्त्या; तद्गतिः कथम् ? अथ मानव्यावृत्त्या; तदा इतरेतराश्रयत्वं दुरुत्तरमापद्यते ।

अथ समानव्यावृत्त्या अवधार्यते; सैव ज्ञातुमारब्धा – कथं ज्ञापिका भवति ? न च एका ज्ञाप्या अन्या ज्ञापिका भवति सदुपलम्भकप्रमाणमात्रापगमस्य ज्ञापकत्वेनेष्टत्वाद् अनिष्ठादोषप्रसंगाच्च–सापि ज्ञापिका कथं ज्ञाता इत्यादिना।

अथ सदुपलम्भकेन अवगम्यते; हीयते तर्हि अभावाख्यं प्रमाणम्, मेयाभावावगमेऽपि तदेवाऽस्तु।

अथ अनवगतमेव मेयाभावेऽनुगमं करोति; यद्येवं देवदत्तस्य देशान्तरे विनाशे जाते देवदत्तोपलम्भकप्रमाणपञ्चकव्यावृत्तौ देवदत्ताभावनिश्चयः स्यात्, न तु भवति प्रभुसमानस्यापि। अथ वस्तुभूतनिमित्तान्तरवैकल्ये सति न भवति; तदेवास्तु तन्नान्तरीयत्वात् तद्गतेः।

अभावस्य च प्रत्यक्षप्रमाणग्राह्यतां प्रतिपादयन्ति नैयायिकाः। सम्बन्धश्च विषयविषयिभावलक्षणः विशेषणविशेष्यभावलक्षणो वा।

[१३. संभवैतिह्यप्रमाणयोर्निरासः।]

संभवस्य अनुमानेऽन्तरीभावसम्बन्धैकनिमित्तमर्दने (?) सति अर्थान्तरे प्रतिपत्तिरनुमानम् ॥ छ ॥

ऐतिह्यस्य चागमे अन्तर्भावः। तस्य च प्रामाण्यं न संभवति, नानुमानान्तर्गतस्य नापि स्वतन्त्रस्य।

[१४. शब्दप्रामाण्यस्य निरासः।]

[§ १. वाचकत्वेन शब्दप्रामाण्यं स्वीकुर्वतां मतस्योद्दलनम्।]

एके वदन्ति – "वाचकत्वेन गोशब्दस्य प्रामाण्यम्।" तच्चासमीचीनम्, शब्दार्थगो(यो:) सम्बन्धव्यतिरेकात्। न तावत्तादात्म्यलक्षणः, तयोराकारभेदात्। नापि तदुत्पत्तिलक्षणः; अर्थापायेपि शब्दोदयदर्शनात्।

१५ त.

नापि सामयिकः शब्दार्थयोः सम्बन्धः; शब्दार्थव्यक्तीनामानन्त्याद् अभिन्नैकनिमित्तस्य चाऽसंभवात्। न च संकेतितशब्दस्य अर्थप्रतिपत्तिकाले अवस्थानं विद्यते। नचार्थप्रत्यायकः(क)शब्दस्य संकेतोऽवगतः, समयकरणकाले तदभावात्। न च स्वकार्यसम्बन्धमन्तरेण पूर्वशब्दसम्बन्धं स्वासारूप्याद् (?) वाचकम् अतिप्रसंगात्।

नापि स्व(स्वा)भाविकः शब्दार्थयोः सम्बन्धः; तद्व्रत्यभावात् न प्रत्यक्षेण नापि अनुमानेन।

अथ अर्थापत्त्याऽनुमीयते; साप्यनुपपन्ना, प्रत्यक्षादिपूर्विका हि अर्थापत्तिः, प्रत्यक्षाद्यभावे तस्याप्य(तस्या अप्य)भावः। न सा अनुमानाद् भिद्यते अर्थापत्तिः। न च अनुमानग्राह्यः शब्दार्थयोः सम्बन्धो भवद्भिः प्रतिपाद्यते। नच तदनुमानमस्ति। न च नित्यसम्बन्धस्य विज्ञानगमक(०नजनक)त्वमिहोपपद्यते उक्तन्यायात्।

एवं च सति सम्बन्धमन्तरेण पदानां वाचकत्वं न युज्यते। तदवाचकत्वे च तत्पूर्वकवाक्यस्यापि वाचकत्वं न लभ्यते। अथ कथं न लभ्यते? प्रसिद्धपदपदार्थसम्बन्धपूर्वकं हि वाक्यं वाचकत्वेन गीयते। तदप्रसिद्धौ वाक्यस्यापि वाचकत्वं न संगच्छते। एवं चाऽवाचकत्वे वेदवाक्यानां कथं प्रामाण्यम्?

अथ अप्रसिद्धपदपदार्थपूर्वकमपि वाक्यं वाचकत्वेन उद्गीयते; तदा सर्वप्रमातॄणां वेदोपलम्भे सति वेदार्थप्रतिपत्तिः स्यात्। किंच, अदृष्टविषये वेदवाक्यानां प्रामाण्यं कथं वेत्सि? वेदैकदेशत्वेन इति चेत्; न, अर्थवदेववाक्येन न व्य(अर्थवादवाक्येन व्य)भिचारात् – "ग्रावाणः प्लवन्ते आदित्यो वैष्णव इति चतुःषष्टिवर्णानालोड्य प्रजापतिः पपौ" इत्यादिना ॥छ॥

[§ २. आप्तोक्तत्वेन शब्दं प्रमाणीकुर्वतां मतस्य निरासः ।]

अन्ये तु आप्तोक्तत्वेन प्रामाण्यमुशन्ति । आप्ताः साक्षात्कृतधर्माणः । तैर्यदुक्तं समेमाप्तं तत्किलाविसंवादकम् ।

"क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद् हेत्वसंभवात्" ।

तदेतदयुक्तम्, आप्तस्य अत्यन्ताऽप्रत्यक्षतया तदायत्तताया अनधिगतेः । वीतरागज्ञापकं च अनुमानं न विद्यते तस्य अप्रमाणत्वात् ।

भवतु वा आप्तोक्तत्वम्; प्रामाण्ये किमायातम्? किं सत्तामात्रेण प्रामाण्य[म्], विज्ञानजनकत्वेन वा? यदि सत्तामात्रेण; तदयुक्तम्; अकारकस्य प्रामाण्याऽयोगात् ।

अथ विज्ञानजनकत्वेन प्रामाण्यम्; तत्किम् एकलस्य, सहकारिकारणोपचरितस्य वा? तद्यदि एकलस्य; तदयुक्तम्; स्वयमनभ्युपगमात्, क्रमयौगपद्यासंभवाच्च ।

अथ सहकारिक(का)रणोपचरितेन जन्यते; यद्येवं तदा सहकारिकारणं दुष्टमप्यभ्येति, तदनुरोधेन विपरीतमपि ज्ञानं जनयति आप्तोक्तत्वे सत्यपि । यथा अभिनवकम्बलसम्बन्धिनं माणवकं दृष्ट्वा प्रवक्ता वाक्यमुच्चारयति – नवकम्बलकोऽयं माणवकः इति; श्रोता तु अधर्ममनःक्षोभादिना निमित्तेन नवत्वसंख्यायुक्तकम्बलसम्बन्धिनं प्रतिपद्यते । तथा प्रतारणबुद्ध्या नवत्वसंख्यायुक्तकम्बलसम्बन्धी माणवक इत्युक्ते अवदातकर्मानुरोधेन प्रतिपत्ता अभिनवकम्बलसम्बन्धिनं प्रत्येति, तथा वेदवाक्यानामपि अवदातेतरकर्मानुवेधेन विपरीतार्थावबोधोत्पादकत्वमुपपद्यते । तथा, भूतोपघातचेतोविक(का)रमनःक्षोभादिना वा निमित्तेन ॥ छ ॥

१ शममार्गे–टि०

[§ ३. अपौरुषेयत्वेन वेदस्य प्रामाण्यं स्वीकुर्वतां मतस्य व्युदासः ।]

अन्ये तु कुमतिमतानुसारिणो वदन्ति – "वेदस्य प्रामाण्यमन्यथा–अपौरुषेयत्वेन। पुरुषा हि रागादिविपरीतचेतसो विपरीतमुपपादयन्ति, न च वेदविधातृसंभवोऽस्ति। तदुक्तम्– नित्यो वेदः अस्मर्यमाणकर्तृ[क]त्वात् व्योमादिवत्। वेदवेधसोऽपगमे तदायत्ता दोषा व्यपगता भवन्ति। ते हि विधातृसत्तानुवर्तिनः तदव(प)गमे कथमवतिष्ठेरन्। तेषामपाये कथमप्रमाणमाशंक्यते वेदः। यदुक्तम् –

" दोषाः सन्ति न सन्तीति पौरुषेयेषु युज्यते ।
वेदे कर्त्तुरभावात्तु दोषाशंकैव नास्ति नः ॥ "

[तत्त्वसं० का० २८९५]

" चोदनाजनिता बुद्धिः प्रमाणं दोषवर्जितैः ।
कारणैर्जन्यमानत्वात् लिङ्गाप्तोक्ताक्षबुद्धिवत् ॥ "

[श्लोकवा. सू. २. श्लो. १८४]

नच चोदनाजनितं विज्ञानं सन्दिग्धम्, किंस्वित् इत्यनेनाकारेणानुपजायमानत्वात्। नचेदं भ्रान्तं देशान्तरादावबाध्यमानत्वात्। यत् देशान्तरादौ बाध्यते तत् मिथ्या, यथा मरीचिनिचये अम्बुज्ञानम्, कालान्तरे च बाधा यथा आरक्तपटे हाटकविज्ञानमित्येवमादि, नचेदं भ्रान्तं तथा, तस्मादवितथम्।"

यत्तावदुक्तम् – 'नित्यो वेदः कर्त्रस्मरणात्'; तदयुक्तम्, कूपारामादिभिरनैकान्तिकत्वात्। तेषां हि कर्त्ता न स्मर्यते अथ च अनित्यत्वम्। अथ देशकालोच्छेदात् तत्र कर्त्तुरस्मरणम्; एवं तर्हि अविशेषाभिहितेऽर्थे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरं नाम निग्रहस्थानम्।

अथवा सत्यपि विशेषणोपादाने हेतोः विपक्षगमनं न निवारयितुं पार्यते, यथा कृतकत्वविशेषणोपादानेऽपि न

प्रमेयत्वस्य व्यावृत्तिरस्ति । अथ कृतकत्वम्; तदेव गमकं व्यावृत्तत्वात् । न ह्येकस्य व्यावृत्तौ अन्यस्य व्यावृत्तिरस्त्यतिप्रसंगात् ।

किंच, साध्यविरुद्धे हेतोः(तौ) किं विशेषणोपादनम्, तद्विपरीते वा ? तद्यदि विरुद्धे; तदाऽनर्थकं विशेषणोपादानम् । अथ अविरुद्धेऽप्येवमेव – नहि विशेषणेन विरुद्धस्वभावता व्यावर्त्तते, यथा कृतकत्वविशेषणोपादानेऽपि न चाक्षुषत्वस्य शब्दे वृत्तिलाभः । तथा देशकु(का)लोच्छेदाभावविशेषणोपादानेऽपि अस्मर्यमाणकर्त्तृ[क]त्वस्य न विपक्षाद् व्यावृत्तिरस्ति । असिद्धोऽप्ययं हेतुः यस्मात्स्मरन्ति एव कर्त्तारं काणादाः । तथा लौकिका अपि बहुलं वक्तारो भवन्ति – 'ब्रह्मणा वेदाः प्रणीताः' इति । अपि च किमशेषजनस्मरणनिवृत्तिरिह हेतुत्वेन विवक्षिता, आहोस्वित् कतिपयपुरुषस्मरणविनिवृत्तिः ? तद्यदि सकलजनस्मरणविनिवृत्तिः; तदाऽसिद्धा, अवधारयितुमशक्यत्वाच्च अर्वाग्भागविद्भिः । अवधारणे वा त एव सर्वज्ञाः स्युः अर्वाग्भागविदो न भवेयुः ।

अथ कतिपयपुरुषापेक्षया; तदानैकान्तिको हेतुः, विद्यमानकर्त्तृकेष्वपि कर्त्ता न स्मर्यते कैश्चित् ।

अन्यच्च, कतिपयैः पुरुषैर्न स्मर्यते – अर्थादापद्यते – पुरुषान्तरस्मर्यमाणकर्त्तृको वेदः, विशेषप्रतिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञाविषयत्वात् । न च पुरुषजन्यत्वेन वेदस्याऽप्रामाण्यम्, अपि तु पुरुषदोषोत्पाद्यत्वेन । अतः स एव अपनेयः न पुरुषव्यापारः । अथ पुरुषस्य दोषाधिकरणत्वे तज्जन्यत्वे दोषजन्यत्वमप्याशंक्यत इति चेत्; यद्येवम् इन्द्रियाणामपि दोषाधिकरणत्वेन तदुत्पादितविज्ञानानामप्रामाण्यं समाशंक्यत इति सर्वत्र प्रामाण्यानास्वा(श्वा)सः स्यात् ।

न च अस्मर्यमाणकर्त्तृकत्वेन वेदशब्दानामपौरुषेयत्वसंसिद्धिः, अन्यथापि अस्मर्यमाणकर्त्तृकत्वमुपपद्यते – केनापि विदग्धमतिना वेदसन्दोहमुत्पाद्य आत्मा अपह्नूयते – 'नाहं वेदानां विधाता' इति।

भवतु वा अपौरुषेयो वेदः; प्रामाण्ये किमायातम्? अथ पुरुषव्यावृत्त्या तद्दोषव्यावृत्तिनिबन्धनं प्रामाण्यम्; तद्व्यावृत्त्या तद्गुणव्यावृत्तिनिबन्धनमप्रामाण्यं किन्नेष्यते? अथ पुरुषगतगुणदोषव्यावृत्तौ निसर्गगुणानुवेधेन प्रामाण्यमिष्यते; पुरुषगुणदोषव्यावृत्तौ निसर्गदोषानुवेधेन अप्रामाण्यं किन्न गीयते? अपि च यथा अपौरुषेयत्वे सत्यपि रागादिदोषसम्बन्धिता उपलभ्यते, तथा वेदेऽपि भविष्यति।

किंच, अपौरुषेयत्वेन कर्त्तृदोषापगमः कृतः, श्रोतृदोषास्तु केनापनीयन्ते। तथा हि – अर्थप्रतिपत्तौ तानपेक्ष्य विपरीतां प्रतिपत्तिमभिनिर्वर्त्तयिष्यति। ततश्च नित्यानामपि कर्त्तृकर्मणां दुष्टसहकारिकारणानुवेधेन विपर्ययादिज्ञानहेतुत्वमुपपद्यते न वाक्यानां प्रमाणप्रतिलम्भः।

यदप्युक्तम् – 'देशान्तरादावबाध्यमानत्वात् प्रमाणं चोदनाजनिता बुद्धिः' – तदयुक्तम्, स्मृतेर्बाधारहितत्वेऽपि अप्रमाणत्वात्।

किंच, बाधाशब्देन विपरीतविज्ञानमपदिश्यते, तच्च नोत्पद्यते – किं चोदनाजनितविज्ञानस्य यथार्थत्वेन उत तदुत्पादककारणवैकल्येन इति सन्दिह्यते।

अपि च, बाधारहितत्वेऽप्यप्रामाण्यं दृष्टं – बाधकविज्ञानोत्पत्तेः पूर्वम्। बाधाप्युपजायमाना कालविकल्पेन उपजायते – क्वचिदर्धमासेन क्वचिन्मासव्यवधानेन क्वचिच्च अब्दद्वयत्रयव्यव-

धानेन, अन्यत्र तु कारकवैकल्यान्नैव संपत्स्यते । नचैतावता प्रमाणं चोदनाजनिता बुद्धिः ।

किंच, बाधारहितत्वमपि किम्-अशेषपुरुषापेक्षया, कतिपयपुरुषापेक्षया वा ? यद्यशेषपुरुषापेक्षया ; तदावगन्तुं न शक्यते, परचित्तवृत्तीनां दुरन्वयत्वात् । अथ कतिपयपुरुषापेक्षया बाधारहितत्वम् ; तदाऽनैकान्तिको हेतुः – यथा असत्योदके जातोदकबुद्धिः तस्माद्देशात् देशान्तरं यदा प्रयाति तत्रैव दशांर्धतामुपयाति, नच तस्य बाधकं विज्ञानमुत्पन्नम् । किमेतावता तत् प्रमाणं भवतु ? अथवा चोदनाजनितविज्ञानस्य निर्विषयत्वमेव भ्रान्तत्वम्, चोदनाजनितविज्ञानसमानकालीनकर्त्तव्यतारूपार्थस्याऽसंभवात् । संभवे वा चोदनावचसो वैकल्यम्, वितानक्रियाविलोपः । अथ न विद्यते कर्त्तव्यतारूपोऽर्थः ; कथं चोदनावचनोद्भूतं विज्ञानं न मिथ्या ? अन्यथा केशोण्डुकसंविदो मिथ्यात्वं न भवेत् । अथ तस्या[ः] प्रतीयमानार्थाऽसंभवेन मिथ्यात्वम् ; तदिहापि तदेवास्तु ।

अथ चोदनाजनितविज्ञानार्थस्य पुनः सद्भावो भवति तेन तस्य यथार्थत्वम् । न तु केशोण्डुकविज्ञानस्य कदाचिदपि सद्भावोऽस्ति । सोऽयं विषभक्षणेन परं प्रत्याययति तपस्वी । चोदनार्थस्य पश्चाद्भवनं तद्विज्ञानानुपयोगि, तस्मिन् काले ज्ञानस्य अस्तमितत्वात्, विज्ञानकाले च अर्थस्य(स्या)संभवात् ।

अथवा, इयमेव बाधा यदुत असंभाव्यमानार्थस्य प्रतिपादकत्वं यथा तन्तु-तुरि-कारकोपनिपाते सति वस्त्रादिकार्यमुपजायमानं दृष्टम् । पुनः पटार्थिने उपदेशो दीयते – 'तन्तूनामुपादानं कुरुष्व' इति । न त्वेवं सप्ततन्त्ववदातकर्मणोः साध्यसाधनसम्बन्धावधारणम्, नापूर्वम्, येनात्र उपदेशस्य साफल्यं भवति । एवं तावदुक्तेन न्यायेन शब्दानां वाचकत्वेन प्रामाण्यं न युज्यते ।

---

१. मरणम् – टि०

[§ ४. विवक्षासूचकत्वेन शब्दप्रामाण्यं स्वीकुर्वतां मतस्य खण्डनम् ।]

अथ विवक्षासूचकत्वेन लिङ्गभूतस्य प्रामाण्यम् । तदुक्तम्—
" विवक्षाप्रभवा हि शब्दाः तामेव संसूचयेयुः " इति ।

तदेतदयुक्तम्, यथा हेतुफलभावो नास्ति सौगते मते तथा प्रागेव प्रपञ्चितम् ॥ छ ॥

[§ ५. साधुपदादर्थप्रतिपत्तिं वर्णयतां वैयाकरणानां मतस्य निरासः ।]

अन्ये तु साधुपदशब्दादर्थप्रतिपत्तिं वर्णयन्ति । साधुत्वं च लक्षणयोगित्वेन । लक्षणं च सूत्राण्येव, लक्ष्यं गौरित्यादिपदम् । अथ किमिदं नाम यल्लक्षणेन परमर्षिगदितेन सूत्रकलापेन लक्ष्यते ? किं गकारादयो वर्णाः, वर्णेभ्योऽर्थान्तरं वा पदं स्फोटरूपम् ? तद्यदि वर्णाः; ते किं नित्याः सन्तः पदसंज्ञा भवन्ति, उत उपजननधर्मकाः ? तद्यदि नित्याः कूटस्थाः सन्तो वर्णाः पदसंज्ञा भवन्ति; तत्र किं व्यस्ताः, समुदिता वा ? तद्यदि व्यस्ताः; सनातना एते पदसंज्ञा भवन्ति, तदा गवर्णेनैव केवलेन गोऽर्थप्रतिपादनं क्रियते, ओकारेण वा अर्थप्रतिपादनं क्रियते । ततश्च पूर्वापरवर्णोच्चारणानर्थक्यम् । न चात्रैकस्मिन् वर्णे विभक्त्यन्तता अस्ति, अपि तु वर्णकदम्बके विभक्त्युत्पादाभ्युपगमात् ।

अथ समुदितानां पदसंज्ञा । तदयु(दु)क्तम् – "बहूनां संघातशब्दवाच्यत्वम्, न ह्येकस्मिन् संघातशब्दप्रयोगोऽस्ति, अपि तु गकारौकारविसर्जनीयेषु समुदायशब्दः प्रयुज्यते ।" तदयुक्तम्, वर्णानां नानाता विद्यते । वर्णो हि अवर्णात् वर्णात्मतया व्यावर्त्तते वर्णान्तरात्तु कथं व्यावर्त्तते ? किं वर्णाकारतया अवर्णात्मतया वा ? तद्यदि वर्णाकारतया व्यावर्त्तते; तदाऽन्येषां वर्णरूपता न प्राप्नोति नीरतीरादेरिव । अथ अवर्णात्मतया व्यावर्त्तते; तदा[ऽ]वर्णात्मता व्यावर्त्तते उक्तानामिव,

ततश्चैक एव वर्णात्मा जगति संजातः । तस्य गोऽर्थवाचकत्वं न युज्यते सुप्विभक्त्यनुपपत्तेः ।

नापि वर्णानां नित्यत्वप्रत्यायकं प्रमाणमस्ति, एवं प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यप्रतिपादनात् । तीव्रमन्दात्मतया गवर्णस्य नानात्वोपलब्धेः गकारोऽपि भेदवान् न गकारे(रै)कत्वम् ।

अथ व्यञ्जकवशेन तीव्रमन्दादिबुद्धेरुत्पत्तिः न गवर्णस्य भेदोऽस्ति; तदयुक्तम्, गवर्ण एव प्रतीयते तीव्रमन्दाद्यात्मतया न व्यञ्जकानि गवर्णबुद्धिर्वा । यदि व्यञ्जकभेदेन तीव्रमन्दादिभेदपरिकॢप्तिः क्रियते गवर्णात्मा तु न भिद्यते; तदा गकारादिविभागोऽपि व्यञ्जकभेदनिबन्धनोऽभ्युपगन्तव्यः, वर्णात्मा त्वेक एव । ततश्च गवार्थप्रतिपत्तिर्न प्राप्नोति एकस्मिन् वर्णे सुप्विभक्त्यनुपपत्तेः ।

किंच, भिन्नाकारतया प्रतीयमानस्य यद्येकत्वमभ्युपगम्यते; नानेकं जगत् स्यात्, अभिन्नात्मके च जगति मानमेयव्यवस्थैव हीयते । न च नित्यस्य अनुपजातविकारस्य विज्ञानोदयदानसामर्थ्यमस्ति ।

अथ क्रियते; किमनुपजातातिशयेन वा, अव्यतिरिक्तोपजातातिशयेन वा, व्यतिरिक्तोपजातातिशयेन वा ? तद्यदि अनुपजातातिशयेन क्रियते; तदा सर्वदा कुर्यात् एकस्मिन् वा काले कुर्यात् तद्देहमात्रानुबन्धेना(न)[1] कालविलम्बनायोगात् ।

अथ अव्यतिरिक्तोपजातातिशयेन क्रियते; तथापि सनातना वर्णाः, अव्यतिरिक्तातिशयकरणपक्षे स एवोपजायते, फलानिष्पत्तिकरणस्वरूपाऽनतिवृत्तेः ।

१. यद्यत्र 'नाकाल' इत्येव शुद्धः पाठः स्यात् तदा ईषत्कालार्थकम् 'आ' पदं सन्धिगतं बोध्यम् ।

अथ व्यतिरिक्तोपजातातिशयेन क्रियते; तस्यातिशयः कथम्? यो यस्य केनापि सम्बन्धेन न सं(०न्धेन सं)बन्ध्यते स तस्यातिशयः। यदि च अन्तर्हितवर्णस्मरणविशिष्टोऽन्त्यो वर्णः पदम्; तस्यापि स्मरणकाले तिरोहितत्वादवाचकत्वम्– "तस्य व्यञ्जकानां क्षणिकत्वात् क्षणोपलब्धिः" इति वचनात्। यदि वर्णा व्यञ्जकैर्व्यज्यन्ते तदा समानदेशावस्थितं समानेन्द्रियग्राह्याणां प्रतिनियतव्यञ्जकत्वेनेष्टम् एकान्तर्गतोदककनकादीनां वदन्ति वैशेषिकाः। (?)

अथ अनित्या वर्णाः पदसंज्ञा भवन्तीति चेत्; तत्रापि किं व्यस्ताः, समस्ता वा? तद्यदि व्यस्ताः; तदा गकारौकारविसर्जनीयान्यतमे वर्णे न विभक्त्युत्पादोऽस्ति, उत्पादे वा एको वर्णः वाचकः स्यात् – वर्णान्तरोच्चारणानर्थक्यम्।

अथ वर्णसमुदायः पदम्; प्रतिक्षणध्वंसिनां समुदायार्थो वक्तव्यः, बहूनामवस्थितरूपाणां समुदायो लोके दृष्टः, न च वर्णानां भूयस्त्वमस्ति उक्तान्न्यायात्। किंच अन्त्यवर्णग्रहणानन्तरं पूर्ववर्णस्मरणम्, पूर्ववर्णस्मरणानन्तरम् अन्त्यवर्णे ज्ञानम्, ततश्चास्य अर्थप्रतिपत्तिकाले पदं [न] विद्यते तेनाऽपदिकाऽर्थप्रतिपत्तिः स्यात्।

न च कार्यरूपता वर्णानां विद्यते। सती सत्ता संवेद्यते। विज्ञानोत्पत्तेः पूर्वं वेद्यस्य सत्ता, पश्चाद्विज्ञानम्। तद्वेद्यं किम्– अधुनोत्पन्नं विषयतां याति, चिरोत्पन्नम्, अनुत्पन्नं वा? नालमालोचयितुं ज्ञानम्, तत्स्वरूपमात्रास्तित्वविधायकत्वेन तदुत्पत्तेः।

न च तत्कारणं विद्यते। ननु प्रयत्नादिकं विद्यते; तदयुक्तम्, तेषां प्रयत्नादीनां स्वरूपं कथं गृह्यते – किं सत्तामात्रेण, कारकत्वेन वा? तद्यदि सत्तामात्रेण; तदा जनकं रूपं न स्यात्।

अथ कारकत्वेन गृह्यते; किम् आत्मजनकत्वेन, आहोस्विद् अन्यजनकत्वेन? तद्यदि आत्मजनकत्वेन गृह्यते; तदात्मा तेनोत्पाद्यते न वर्णः। अथ अन्यजनकत्वेन अवधार्यते; तदा अन्यस्य सत्ता सिद्धा। तह्र्यो(नह्या)क्षिप्तान्यसद्भाव एव सद्भावोऽस्याध्यवसीयते, ततः तत्समानकालीनत्वेन हेतुफलभावाऽसिद्धिः।

किंच, पूर्वापरभावेन हेतुफलभावः, किं वा पूर्वापरग्रहणेन? तद्यदि पूर्वापरभावेन हेतुफलभावः; तदा ज्ञानं विना 'अस्ति' कथं ज्ञायते? ज्ञानाभावेनाऽज्ञाने किं पूर्वोत्पन्नौ सहोत्पन्नौ वा? अथ पूर्वापरग्रहणेन हेतुफलभावव्यवस्था इति; तदयुक्तम्, अनियतं ग्रहणं दृष्टम् – कार्यं दृष्ट्वा कारणं गृह्णाति, कारणं दृष्ट्वा कार्यं गृह्णाति, उभयं च युगपत् गृह्णाति। एवं च स्थिते न हेतुफलभावविनिश्चयोऽस्ति। तदभावान्नाऽनित्या वर्णाः पदं भवितुमर्हन्ति।

अथ वर्णेभ्योऽर्थान्तरभूतं पदं वर्णव्यङ्ग्यस्फोटरूपमभ्युपगम्यते। वर्णानां किल अर्थप्रत्यायकत्वं व्यस्तसमस्तानां संभवति, अस्ति च सा अर्थप्रतिपत्तिः तेन अर्थान्तरभूतं वर्णेभ्यः पदं विद्मः। अभिन्नाकारा च प्रतिपत्तिर्वर्णेष्वनुपपन्ना तेन वर्णेभ्यो भिन्नम् अभिन्नाकारं पदमध्यवसीयते।

यत्तावदुक्तम् – "अर्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या पदमवगम्यते" तदयुक्तम्, अर्थापत्तेः प्रामाण्यमेव नास्ति। यथा च न विद्यते तथा प्रागेव प्रपञ्चितम्। न च पदेन सह प्रतिबद्धा अर्थप्रतिपत्तिः अवगतपूर्वा येन अन्यकारणपरिहारेण पदं बोधयाति। प्रत्यक्षं च प्रमाणमेव न भवति। कथं तत् पदप्रतिपादनाय अलम्? न च नित्यस्य विज्ञानाद्यर्थक्रियाकरण-

सामर्थ्यमस्ति। एवं लक्ष्यभूतं पदं न विद्यते। तदभावान्निर्विषयं पारमार्थं(मर्षं) लक्षणमिति।

अपि च, यानि लक्षणपराणि सूत्राणि तेषां लक्षणं विद्यते, न वा? यदि विद्यते; तत्रापि अन्यद् अत्रापि अन्यद् इत्यनिष्ठायां च न किंचित् पदं ज्ञानं(तं) स्यात्। अथ न विद्यते; किमेवं तर्हि तेषां साधुत्वं न विद्यते?

अथ लक्षणाभावेऽपि तेषां साधुत्वं विद्यते; एवं गावी-गोणी-गोपुत्तलिकेत्येवमादीनामपि अपभ्रंसा(शा)नां लक्षणाभावेऽपि साधुत्वं भविष्यति। अथ लक्षणाभावान्न गाव्यादीनां साधुत्वम्; तदा सूत्रपदानामपि तदभावादेव असाधुत्वम्। अपि च, यदि नाम लक्षणविकलता शब्दस्य; तदा किं भवति? किमुच्चारयितुर्मुखभङ्गः संपद्यते, शब्दस्य वा अवाचकत्वम्, अर्थस्य वा रूपविपर्यासो जायते, किं वा अपशब्दप्रतिपादितार्थस्य अर्थक्रियाकर्तृत्वं हीयते, अपशब्दोच्चारणे सति अमङ्गलोदयो वा भवति?

तद्यदि तावत् प्रवक्तृमुखभङ्गो भवति गावीशब्दोच्चारणे सति; तदैते बहुलं गावीशब्दोच्चारणं कुर्वाणाः समुपलभ्यन्ते प्रवक्तारः, न च तेषां मुखभङ्गः समुपलभ्यते।

अथ गावीशब्दस्य वाचकत्वं नोपपद्यते; तदयुक्तम्, गावीशब्देन बहुलं व्याहरन्ति प्रमातारः। अथ गोऽर्थप्रतिपित्सूनां गावीशब्दश्रवणानन्तरं गोशब्दे स्मृतिरुपजायते स च गवाद्यर्थवाचक इति चेत्; तदयुक्तम्, म्लेच्छादीनां साधुशब्दपरिज्ञानाभावात् कथं तद्विषया स्मृतिः? तदभावे न गोऽर्थप्रतिपत्तिः स्यात्।

अथ अर्थस्य रूपविपर्यासो भवति; तदयुक्तम्, न गावीशब्देन अभिधीयमानस्य गोरूपता व्यावर्त्तमाना दृष्टा। अथ

अर्थक्रियाकर्तृत्वं हीयते; तदयुक्तम्, गावीशब्देन अभिधीयमानस्य वाहदोहप्रसवसामर्थ्यं नातिवर्तते गोपिण्डस्य। अथ गावीशब्दोच्चारणादमङ्गलोदयो भवति, न तु वाचकत्वं निराक्रियते असाधुशब्दस्य। तदुक्तम् –

" अपशब्दोनुमानेन वाचकः कैश्चिदिष्यते।
वाचकत्वाऽविशेषेऽपि नियमः पुण्यपापयोः॥ "

तदयुक्तम्, तेन सह प्रतिबन्धाभावात्। न चापोस्तित्वग्राहकं(?) प्रमाणमस्ति। अन्यथैव काले च न म्लेच्छि[त]व्यमिति नियमोऽभ्युपगम्यते। न च शुद्धम्, अन्यत्र पण्डितानामपि व्यवहारोदयदानदर्शनात्।

तदेवमुपप्लुतेष्वेव तत्त्वेषु अविचारितरमणीयाः सर्वे व्यवहारा घटन्त इति।

ये याता नहि गोचरं सुरगुरोः बुद्धेर्विकल्पा दृढाः,
प्राप्यन्ते ननु तेऽपि यत्र विमले पाखण्डदर्पच्छिदि।
भट्टश्रीजयराशिदेवगुरुभिः सृष्टो महार्थोदयः –
तत्त्वोपप्लवसिंह एष इति यः ख्यातिं परां यास्यति॥
पाखण्डखण्डनाभिज्ञा ज्ञानोदधिविवर्द्धिताः।
जयराशेर्जयन्तीह विकल्पा वादिजिष्णवः॥ छ ॥

संवत् १३४९ मार्ग० वदि ११ शनौ धवलक्कके महं० नरपालेन तत्त्वोपप्लवग्रन्थपुस्तिका लेखीति। भद्रं॥

तत्त्वोपप्लवसिंहस्य

परिशिष्टानि

१. तत्त्वोपप्लवसिंहस्य शब्दसूची*

अ

*अस्मिन् परिशिष्टे स्थूलाङ्काः पृष्ठसूचकाः सूक्ष्माश्च पंक्तिसूचकाः ।

श

ह

२. तत्त्वोपप्लवसिंहगतानि विशेषनामानि[1]

१. अङ्काः पृष्ठसूचकाः

३. तत्त्वोपप्लवसिंहगतानि अवतरणानि[1]

---

१. अङ्काः पृष्ठसूचकाः

३. तत्त्वोपप्लवसिंहगतानि अवतरणानि